

# ओ३म् भारत में मूर्ति पूजा

पंडित राजेंद्र जी

सभी प्रकार का वैदिक साहित्य हार्ड कापी याpdf  
में प्राप्त करने के लिए आर्य पुस्तकालय से संपर्क करें

**आर्य पुस्तकालय** ओमकार नाथ

ग्राम- सेमरहन, पो०-पड़रखा, जि०-सीतापुर(उ.प्र.)

सम्पर्क सूत्र-8376945847, omkarnath426@gmail.com

[www.vedickosh.in](http://www.vedickosh.in)

ओ३म्

# भारत में सूर्तिपूजा

लेखक

पंडित राजेन्द्र

प्रणेता—ऋषि दयानंद के पुण्य सस्मरण, पूर्वजन्मस्मृति, भारतीय संस्कृति के तीन प्रतीक, गीता विमर्श, गीता की पृष्ठभूमि, ऋषि दयानंद और गीता, आदि

प्रकाशक

वेद मंदिर प्रकाशन

अतरौली (अलीगढ)

उत्तर प्रदेश

तृतीय संस्करण

मूल्य २) रुपया

# सर्वाधिकार लेखक के आधीन

मुद्रक

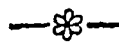
सुरेशचन्द्र वाण्णैय एम० ए०

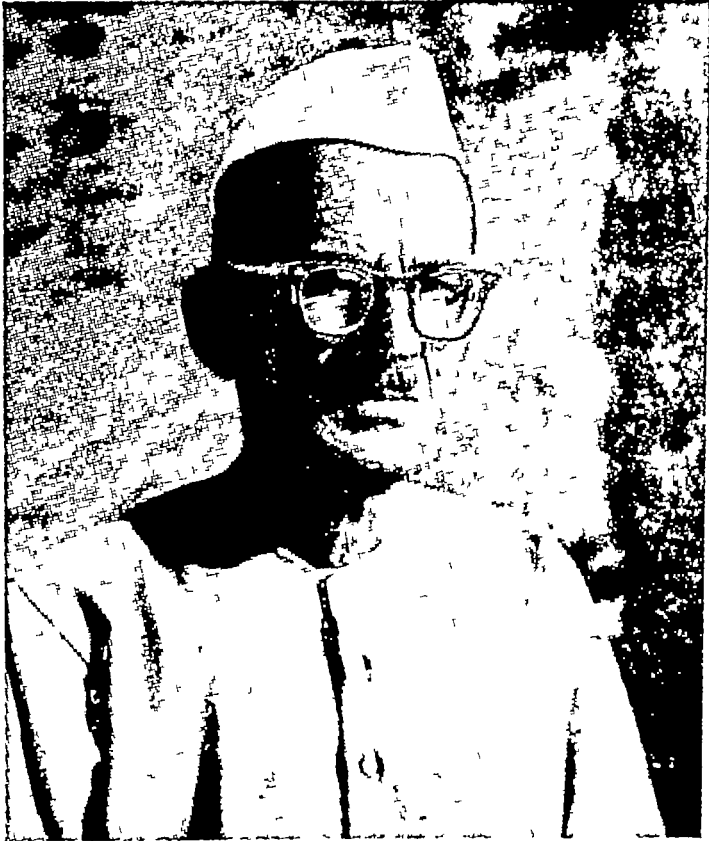
आशा प्रेस

तिलहरकुँज, महेन्द्रनगर, अलीगढ

# विषय सूची

क्रम सख्या	विषय	पृष्ठ
१	मूर्तिपूजा का आदि तथा आदिकारण	१३
२	वैदिक काल और मूर्तिपूजा	१६
३	मूर्तिपूजा और अवतारवाद	३४
४	मूर्तिपूजा और बहुदेवतावाद	४३
५	मूर्तिपूजा और रामायण काल	५०
६	मूर्तिपूजा तथा महाभारत काल	६०
७	मूर्तिपूजा और पौराणिक काल	७१
८	मूर्तिपूजा और मुस्लिम काल (१)	११८
९	मूर्तिपूजा और मुस्लिम काल (२)	१४०
१०	मूर्तिपूजा और वर्तमान सुधार काल	१५६
११	सिंधुघाटी की सभ्यता और मूर्तिपूजा	१७५
१२	वेदों में मूर्तिपूजा की भ्रान्ति	१८०
१३	मूर्तिपूजा का मानव जीवन पर प्रभाव	१९६
१४	मूर्तिपूजा और योगसाधन	२०५
१५	मूर्तिपूजा शङ्का-समीक्षा	२१४
१६	उपासना विधि	२५२





लेखक

## तृतीय संस्करण की भूमिका

इस देश के जिन दार्शनिक विद्वानों ने भारतीय दृष्टिकोण से हमारे विगत दो हजार वर्षों के धार्मिक तथा सांस्कृतिक इतिहास पर विचार किया है, वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे विना नहीं रह सके कि यह काल विकास का न होकर हमारे ह्रास का रहा है। मूर्तिपूजा भी इस ह्रास की एक मुख्य कडी है। दुर्भाग्यवश हमारा शिक्षित समाज आज इस तथ्य को नहीं समझ पा रहा—जिन लोगो का मूर्तिपूजा के साथ अपना स्वार्थ निहित है उनकी तो बात ही दूसरी है। हमारा समस्त वैदिक साहित्य इसकी साक्षी है कि बौद्ध-काल से पूर्व हमारे धर्म अथवा संस्कृति में मूर्तिपूजा को किंचित मात्र भी कोई स्थान नहीं था। रामायण काल तो क्या महाभारत काल में भी मूर्तिपूजा का इस देश में प्रचार नहीं था—इसके यह दोनो ग्रंथ अपने वर्तमान प्रक्षिप्त रूप में भी साक्षी हैं।

मूर्तिपूजा बौद्ध और जैन सम्प्रदायो में आज से २००० वर्ष पूर्व विकसित हुई—प्रारम्भ में यह सम्प्रदाय भी मूर्तिपूजक नहीं थे। इसका ज्वलन्त उदाहरण इनमें मूर्तिपूजक और उसके विरोधी—परस्पर मतभेद रखने वाले दो विभिन्न वर्गों की विद्यमानता है, जिनमें परस्पर संघर्ष इस विषय पर आज भी रहता है।

यह सब रहते हुए भी मूर्तिपूजा में एक आकर्षण है, जिसके कारण यह सदा और सर्वत्र पनपती रही—और वह है, इसके साथ जुड़ा हुआ सहज प्राप्त आर्थिक लाभ। यह वह धन-वैभव है जिसके सहारे पडे-पुजारी, महत, मदिरोँ के कर्मचारी, तीर्थ-स्थानो के व्यापारी, मजदूर और यात्रियो से प्राप्त अनेक प्रकार के प्रशासन के राज्यकर जिनसे सभी लाभान्वित होते रहते हैं

एक मूर्तिपूजक को इस पूजा से आध्यात्मिक लाभ है या हानि इससे इन लोगों को सम्बन्ध नहीं है। तीर्थस्थानों के गगनचुम्बी मठ-मन्दिर, उनकी राजमहल जैसी धर्मशालाएँ, महन्तों के भवन और राजसी रहन सहन, पड़े-पुजारियों के विलासी जीवन—यदि किसी की आंख खोलने के लिए अर्पय्यप्त है तो उसे जान-चक्षु विहोन के अतिरिक्त और क्या कहा जाय ?

यदि मूर्तिपूजा ईश्वर प्राप्ति का साधन है, यदि वह एक सीढ़ी है जिस पर चढ़ कर हम ऊपर चढ़ते हैं अथवा हमारा अध्यात्म विकास होता है—तब मूर्ति और मूर्तिपूजा के नित्य-प्रति सम्पर्क में रहने वाले पड़े पुजारी, महन्त एवं तीर्थ निवासी उससे वंचित क्यों है ? यह एक प्रश्न है जिसका उत्तर किसी निष्पक्ष विचारगोल मूर्तिपूजक के पास कोई नहीं है।

हमारा यह विगत इतिहास हमारे घोर पतन—जिसमें हमारी धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक और उसके फलस्वरूप एक हजार वर्ष की हमारी दासता तथा उसकी अकथनीय यातनाएँ सभी सम्मिलित हैं—की एक लम्बी कहानी है। ससार की अवि-कसित और असभ्य जातियों ने अपनी सांस्कृतिक तथा राजनी-तिक भूजां से कुछ सीखा और विकसित होकर कहीं से कहीं जा पहुंची। परन्तु हमने अपने अनात के मिथ्या अभिमान में अपनी भूलों और कुरीतियों से कोई शिक्षा नहीं ली।

हम कुछ हजार वर्षों की धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों को सनातन समझते हैं और वेद-शास्त्रों की अमूल्य ईश्वर एवं ऋषियों की दी हुई प्राचीन निधि को यदि हमारे समक्ष कोई रखता है तो उसे नवीन कहते हैं। आज भी वही स्वार्थपूर्ण साम्प्रदायिक शक्तियां जिनका हमारी इस अधोगति में गहरा हाथ रहा है, हमारे मार्ग में बाधक हैं।

इसी गत दो हजार वर्ष के मूर्तिपूजा के इतिहास पर इस

पुस्तक मे सविस्तार विवेचन किया गया है। प्राचीन वैदिक साहित्य से लेकर अर्वाचीन पौराणिक साहित्य के सभी पक्ष-विपक्ष के सिद्धान्तो पर विचार, आपको इसमे मिलेंगे। पक्ष-विपक्ष मे दी जाने वाली सभी युक्तियाँ और उनका समाधान आप यथास्थान इसमे पायेंगे।

इस पुस्तक का यह तीसरा संस्करण है, जो इसकी लोक-प्रियता का एक प्रमाण है। देश के अनेक निष्पक्ष विद्वानो और पत्र-पत्रिकाओ ने इसकी सराहना द्वारा जहाँ मुझे आभारी किया है वहाँ देश के प्रत्येक भाग मे इसे प्रसारित करने मे वे सहायक हुए हैं।

मुद्रण-स्थान दूसरे नगर में होने के कारण, मुद्रण की अशुद्धियाँ इस तीसरे संस्करण में चलती रही। बड़े प्रेसों की महगी छपाई से बचकर पुस्तक को यथासम्भव सस्ता रखने का प्रयास भी इसका एक अन्य कारण है। महगा कागज एव धार्मिक साहित्य के विक्रय की मद्दति, डाक की बढी हुई दरें—आज प्रकाशक के मार्ग में अनेक बाधाये है, जिनको भली-भाति वही जानता है। आशा है कि इन सबको दृष्टि मे रख कर पाठक लेखक, प्रकाशक और मुद्रक सभी को क्षमा करेंगे। मुद्रण की मुख्य अशुद्धियाँ पुस्तक के अन्त में दी गईं है, पाठक उन्हें देखकर यथास्थान सुधारने का कष्ट करे।

—राजेन्द्र

आर्य-निवास,  
अतरौली (अलीगढ)  
आश्वनि पूर्णिमा स० २०२० वि०



# मूर्ति पूजा का आदिकाल

तथा

## आदि कारण

### मूर्ति-पूजा का आदिकाल

ससार के विभिन्न भागों में मूर्तिपूजा का सूत्रपात्र कब और कहाँ हुआ यह तो कहना कठिन है किन्तु जहाँ तक भारत-वर्ष का सम्बन्ध है, पूर्वी एवं पश्चिमी सभी इतिहासिज्ञ तथा दार्शनिकों का मत है कि उसका जन्मकाल जैन-बौद्ध काल है। हिन्दू सम्प्रदायवादी चाहे इस विचार से सहमत न हो किन्तु निष्पक्ष स्वतन्त्र विचारक इस विषय में एक मत हैं। अतः जहाँ तक ऐतिहासिक खोज का सम्बन्ध है, इसका समय जैन-बौद्ध काल से पहले नहीं जाता।

बुद्ध का जन्मकाल ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व माना जाता है। वर्तमान जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर स्वामी, महात्मा बुद्ध के समकालीन थे। भगवान बुद्ध की शिक्षाओं में कहीं भी मूर्तिपूजा का उल्लेख नहीं है। उन्होंने ८० वर्ष की आयु में निर्वाण पद प्राप्त किया। उनकी मृत्यु के पश्चात् स्मारक रूप में, उनके शिष्यों ने उनके केश, दाँत और अस्थियों को लेकर उन पर समाधियाँ निर्माण कर दीं। सम्भवतः कुछ काल व्यतीत होने पर अज्ञान और मोह वश, इन स्मारक चिन्हों की पूजा प्रारम्भ होगई। धीरे धीरे इन ही समाधियों पर बुद्ध की

मूर्तियाँ स्थापित कर दी गई और उनकी सर्वत्र पूजा होने लगी। बौद्ध धर्म की मूर्तिपूजा के इस विकास के लिये कुछ शताब्दियों का व्यतीत हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। सम्भव है, प्रारम्भ में जैन धर्म में भी मूर्तिपूजा का कोई स्थान न हो और बौद्ध धर्म की भाँति इसमें भी उसका शनैः शनैः विकास हुआ हो। अतएव मूर्तिपूजा का प्रारम्भिक काल महात्मा बुद्ध के जन्म के पश्चात् कुछ शताब्दियाँ व्यतीत होने पर ही निश्चय होता है।

मूर्तिपूजा हमारे देश में बौद्धकाल से पूर्व किसी भी रूप में प्रचलित न थी, इसका सबसे प्रबल ऐतिहासिक प्रमाण चीन-के दो प्रसिद्ध यात्री-फाहियान तथा हेनसांग का यात्रा विवरण है। फाहियान ने इस देश की सन् ४०० ई० में यात्रा की। उसका कहना है कि उस समय कावुल में बौद्ध धर्म का पूर्ण विस्तार था और वहाँ ५०० बौद्ध विहार थे। मथुरा में उसने तीन हजार बौद्ध भिक्षुओं को देखा था और उस समय वहाँ बौद्ध धर्म का पूरा प्रचार था। राजपूताने के समस्त राजा बौद्ध धर्मावलम्बी थे। उसने सर्वत्र ऐसे विहार देखे जिन पर लाखों रुपये व्यय किये गये थे। वह सब स्थानों में घूमता हुआ पटना पहुँचा जहाँ बौद्धों के सघों में प्रथम बार बुद्ध की मूर्ति को देखा। वह लिखता है —

“प्रति वर्ष दूसरे मास के आठवे दिन मूर्तियों की एक सवारी निकाली जाती है। इस अवसर पर लोग चार पहिये का रथ बनवाते हैं और उस पर बाँसों का ठाठ बाँध कर पाँच बाँसों का खण्ड बनाते हैं। उसके बीच एक खम्भा रखते हैं जो तीन फल वाले भाले की भाँति होता है और ऊँचाई में २२ फीट या इससे अधिक होता है, और मंदिर की भाँति दीख पड़ता है। तब वे सफेद मलमल से उसे ढकते हैं और चटकीले रंगों से

उसे रगते हैं। फिर देवों की चादी, सोने की मूर्तियाँ बनाकर चाँदी सोने और काच से आभूषित करके कामदार रेशमी चन्दुए के नीचे बैठाते हैं। रथ के चारों कोनों पर वे ताख बनाते हैं और उनमें बुद्ध को बैठी मूर्तियाँ जिनकी सेवा में एक बोधिसत्व खड़ा रहता है, बनाते हैं। ऐसे ऐसे बीस रथ बनाये जाते हैं। इस यात्रा के दिन बहुत से गृहस्थ और सन्यासी एकत्रित होते हैं। जब वह फूँक और धूप चढ़ाते हैं तो बाजा बजता है और खेल होता है। श्रमण लोग पूजा को आते हैं। तब बौद्ध एक एक करके नगर में प्रवेश करते हैं। और वहाँ वे ठहरते हैं। रात भर रोशनी करते हैं। गाना और खेल होता है। पूजा होती है इत्यादि इत्यादि।”

यहाँ से उसने राजगृही, गया, काशी, कौशाम्बी और चपा जो पूर्वी बिहार की राजधानी थी, की यात्रा की। परन्तु उसने इन तीर्थों में एक भी हिन्दुओं का मन्दिर नहीं देखा। सब जगह बौद्धों के सँवाराम ही देखे। ताम्रपल्ली में भी उसने २४ सँवाराम देखे। अन्त में वह जहाज द्वारा सिंहल को चला गया।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि फाहियान की यात्रा के समय बौद्धों में भी सर्वत्र मूर्तिपूजा का प्रचार नहीं हुआ था। हिन्दुओं के अनेकानेक वर्तमान देवी देवताओं की मूर्तियों और उनके मन्दिरों की तो अभी सृष्टि भी नहीं हुई थी। इस प्रकार फाहियान का यात्रा काल निर्विवाद रूप से मूर्तिपूजा का प्रारम्भिक युग कहा जा सकता है।

फाहियान के लगभग दोसी वर्ष के पश्चात् हेनसाँग एक दूसरा चीनी यात्री भारतवर्ष में आया। वह फरगन, समरकंद, बुखारा और बलख होता हुआ, इस देश में आया। यह यात्री सन् ६४० ई० में भारत में था।

उसने जलालाबाद को बौद्धों से परिपूर्ण, समृद्धशाली नगर पाया । उसने यहाँ पाँच शिवालय हिन्दुओं के देखे जिनके १०० पुजारी थे । कंधार और पेशावर में उसने एक हजार बौद्ध सघारामों को उजडा हुआ खंडहरावस्था में पाया और हिन्दुओं के सौ मन्दिर देखे ।

उसने मालवा के राजा शिलादित्य का वर्णन किया है, जो विक्रमादित्य का पुत्र था । विक्रम ने मनोत्तृत नाम के बौद्ध भिक्षु को हिन्दुओं का पक्षपाती होने के कारण अपमानित किया था, किन्तु शिलादित्य ने बुलाकर उसकी प्रतिष्ठा की थी । इस यात्री ने पौलुश नगर के निकट एक ऊँचे पर्वत पर नीले पत्थर से काट कर बनाई हुई एक दुर्गा की मूर्ति देखी । जहाँ उसने घनी, दरिद्र सब ही को एकत्र इस मूर्ति की पूजा करते देखा । पर्वत के नीचे महेश्वर का एक मन्दिर था जहाँ भस्म लगाये अनेक साधु रहते थे ।

काबुल और चमन में जहाँ दो सौ वर्ष पूर्व फाहियान ने बौद्ध धर्म का पूर्ण उत्कर्ष देखा था, वहाँ हेनसांग ने सघारामो को उजाड़ पाया और दस हिन्दू मन्दिरों को देखा । उसने तक्ष-शिला और काश्मीर में जैनियों को महावीर की मूर्ति पूजते देखा । काश्मीर में अब भी बौद्धों का प्राबल्य था और वहाँ उस समय कनिष्क राज्य करता था जो बौद्ध था, जिसने बौद्धों की दशा उन्नत करने के अभिप्राय से एक सभा बुलाकर महायान साम्प्रदाय को जन्म दिया था । उसने अपने यात्रा विवरण में पंजाब के राजा मिहिरकुल का भी उल्लेख किया है, जिसने पाँचों खंडों के बौद्ध भिक्षुओं को मार डालने की आज्ञा दी थी और कंधार को विजय कर वहाँ के राजवंश को नष्ट कर डाला था । इसने बौद्ध सघारामो, स्तूपों और भिक्षुओं को नष्ट भ्रष्ट कर दिया

और सिध के तट पर तीन लाख बौद्धों का वध कराया था ।

मथुरा में इस समय भी बौद्ध धर्म का प्रचार था । वहाँ उसने २० सघाराम और दो हजार भिक्षुओं को उनमें पूजा उत्सव आदि करते देखा ।

उसने गंगा की प्रसशा मुनी जो पापों का नाश करने वाली प्रसिद्ध थी । हरिद्वार में उसने एक देव मन्दिर भी देखा जिसमें बड़े चमत्कार किये जाते थे । हरि की पीड़ी उस समय पत्थर की निर्माण हो चुकी थी और उसमें स्नान करने का महात्म्य प्रसिद्ध हो चुका था ।

कन्नौज उस समय गुप्त राजाओं की सुप्रसिद्ध राजधानी थी । यहाँ उसने बौद्ध और हिन्दुओं को समानावस्था में पाया । यहाँ पर १०० सघाराम और १० हजार भिक्षु तथा २०० देव-मन्दिर और हजारों पुजारी उसने देखे । यहां के बौद्ध राजा शिलादित्य द्वितीय से भी उसकी भेंट हुई, जिसने गंगा के पूर्वीय तट पर १०० फीट ऊंचे स्तम्भ पर बुद्ध की मनुष्याकार सोने की मूर्ति स्थापित की थी ।

वहाँ का वर्णन करते हुये वह लिखता है—‘वसन्त ऋतु के तीन मास तक वह (शिलादित्य) भिक्षुओं और ब्राह्मणों को भोजन देता था । सघाराम से महल तक सब स्थान तम्बुओं और गवैयों की छोलदारियों से भर जाता था । बुद्ध की एक छोटी सी मूर्ति एक अत्यन्त सजे हुये हाथी पर रखी जाती थी और शिलादित्य इन्द्र की भाँति सजा हुआ उस मूर्ति की वाई और, और कामरूप का राजा दाहिनी ओर पाँच पाँच सौ युद्ध के हाथियों की रक्षा में चलता था । राजा चारों ओर मोती, सोने चाँदी के फूल एवं अनेक बहुमूल्य चीजे फेंकता जाता था । मूर्ति को स्नान कराया जाता था और शिलादित्य उसे स्वयं

कंधे पर रखकर पश्चिमी वुर्ज पर ले जाता था और उसे रेशमी वस्त्र और रत्न जटित भूषण पहनाता था । फिर भोजन और शास्त्र चर्चा होती थी ।

हेनसाँग ने अयोध्या में भी बौद्धों के १० संघाराम और ३००० भिक्षु और बहुत से हिन्दुओं को देखा । प्रयाग में उसने हिन्दुओं का प्राबल्य देखा और गंगा यमुना के संगम पर सैकड़ों मनुष्यों को स्वर्गलाभ की लालसा में मरते देखा । उसका कहना है कि नदी के बीच में एक ऊँचा स्तम्भ था जिस पर चढ़ कर लोग अस्त होते हुए सूर्यका दर्शन करते थे । श्रीवस्ती, कौशावी और काशी में भी उसने हिन्दुओं का प्रभुत्व पाया । काशी में उसने ३० संघाराम, ३००० भिक्षुओं और १०० देव मन्दिर तथा १० हजार पुजारी देखे थे । यहाँ पर केवल महेश्वर की पूजा प्रचलित थी । महेश्वर की एक तँबे की १०० फीट ऊँची मूर्ति थी । वह इतनी गम्भीर और तेजपूर्ण थी कि जीवित सो जान पड़ती थी । वहाँ उसने एक मनुष्याकार बुद्ध की मूर्ति भी देखी थी ।

वैगाली में उसने बौद्ध संघाराम को खडहरावस्था में पाया । वहाँ बहुत से देवमन्दिर बन चुके थे । मगध में ५० संघाराम और दस हजार भिक्षुओं को देखा था । यहाँ हिन्दुओं के भी दस मन्दिर थे । पाटलीपुत्र इस समय उजाड़ हो चुका था । गया में उसने ब्राह्मणों के कई हजार घर देखे । गया के बोधिवृक्ष और बिहार की अपूर्व गोभा इस यात्री ने देखी थी । वह लिखता है:—

“यह १६० या १७० फीट ऊँचा है और बहुत सुन्दर बेल वूटों का काम इस पर हुआ है । कहीं तो मोतियों से गुथी हुई मूर्तियाँ बनी हैं—कहीं ऋषियों या देवताओं की मूर्तियाँ हैं ।

इन सबके चारों ओर तावे का सुनहला आमलक फल है। इसके निकट ही महाबोधि सघाराम का विशाल भवन है, जिसे लका के राजा ने बनवाया है। उसकी ६ दीवारे तथा तीन खड ऊचे बुर्ज है। इसके चारों ओर ३०—४० फीट ऊचे परिकोट है। इसमें शिल्प की बहुत भारी कला खर्च की गई है। बुद्ध को सोने, चादी की मूर्तियां है और उनमें रत्न जडे है। वर्षा ऋतु में यहा बौद्धों का बहुत भारी मेला लगता है, लाखों मनुष्य आते है और दिन रात उत्सव मनाते है।”

यह नालद विश्वविद्यालय में कामरूप के राजा के साथ कुछ दिन रहा था। यहा इसने बड़े बड़े दिव्दानो से बातचीत की थी। मुगेर, पूर्वी बिहार तथा उत्तरी बंगाल में बौद्धों के सघाराम और हिन्दुओं के देव मन्दिर दोनों ही समान रूप से विद्यमान थे। यहा से चलकर वह आसाम, मनीपुर, सिलहट आदि पहुंचा जहाँ बहुत से हिन्दू मन्दिर निर्माण हो चुके थे और बौद्धों का बहुत कुछ लहस हो चुका था। यहाँ उसने एक भी सघाराम नहीं देखा।

वर्तमान मिदनापुर के निकट ताम्रलिप्त राज्य में उसने जहाँ तहाँ सघाराम देखे। कर्ण सुवर्ण ( मुर्शिदाबाद ) में उसने बौद्ध और हिन्दू दोनों ही पाये। उड़ीसा में उसने १०० सघाराम और १० हजार भिक्षु देखे थे। पुरी का प्रसिद्ध जगन्नाथ का मन्दिर उस समय तक नहीं बना था। परन्तु हिन्दुओं के दस मन्दिर वहाँ बन गये थे। बौद्ध इस स्थान को अपनी रक्षा का एक मात्र स्थान समझते थे। पुरी में आज भी बौद्धों के ढग पर जगन्नाथ जी की रथ यात्रा निकाली जाती है। कर्लिंग राज्य में बौद्ध धर्म का प्रचार नहीं था परन्तु वरार में हिन्दू, बौद्ध दोनों ही समान थे। यही पर प्रसिद्ध सिद्ध नागार्जुन रहता था। आंध्र

प्रदेश में उसने २० सघाराम और ३० देव मन्दिर देखे । द्राविड़ देश में बौद्धों का अब भी प्रभाव था । यहाँ १०० सघाराम और १० हजार भिक्षु थे । मालावार में बौद्धों और हिन्दुओं को समानता थी । लका में वह स्वयं नहीं गया किन्तु उसने लिखा है कि वहाँ १०० बौद्ध मठ और २० हजार भिक्षु थे । महाराष्ट्र में उसने अनेक बौद्ध सघाराम और अजन्ता को प्रसिद्ध गुफाओं को देखा । यहाँ ७० फीट ऊँची बुद्ध की मूर्ति थी । मालवा में उसने १००-१०० सघाराम और हिन्दू मन्दिर देखे । कच्छ गुजरात और सिंध प्रदेशों में उसने सर्वत्र बौद्धों का पतन और मूर्तिपूजाक हिन्दू धर्म का उत्कर्ष देखा था ।

हेनसाँग का यह यात्रा विवरण मूर्तिपूजा के इतिहास पर फाहियान की भाँति एक दूसरी अत्यन्त प्रामाणिक निष्पक्ष साक्षी है । जहाँ फाहियान का समय बौद्ध धर्म के उत्कर्ष और मूर्तिपूजा का आदिम युग था, वहाँ हेनसाँग के यात्रा काल में बौद्ध धर्म का बहुत कुछ ह्रास हो चुका था और हिन्दुओं के वर्तमान पौराणिक धर्म की जड़ जम चुकी थी । इस समय को हम बौद्ध और पौराणिक धर्म के संघर्ष का समय कह सकते हैं । बौद्धों का अनुसरण करते हुये हिन्दुओं में भी मूर्तिपूजा प्रचलित हो चुकी थी और उनके सैकड़ों मन्दिर बन चुके थे ।

कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि सबसे पहिले मूर्तिपूजा जैन धर्म में प्रारम्भ हुई और बौद्धों ने उसे जैनियों से और हिन्दुओं ने जैन एवं बौद्धों से ग्रहण किया । जैन सम्प्रदाय के श्वेताम्बर शाखा वाले मूर्तिपूजा को जैन मत का अङ्ग नहीं मानते । वे दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा प्रचलित तीर्थंकरों की पूजा का निषेध करते हैं । उनका अभिमत है कि जैन धर्म-ग्रन्थों में मूर्तिपूजा का कहीं उल्लेख नहीं है । इसकी सम्पुष्टि में वे अपने



धर्म ग्रन्थों के अनेकानेक प्रमाण प्रस्तुत करने हैं। भारतवर्ष का इतिहास, भाग २, पृ० ३५० (मिश्रबन्धु) में लिखा है—“सम्बत् ३४० वि० में जैनियों के ओसवाल और श्रीमाल, ये दो विभाग हुए। इसी समय महावीर स्वामी जी की प्रतिमा उपकृष्णपत्तन में स्थापित हुई। सम्भवतः जैनो में मूर्ति पूजा का आरम्भ इसी प्रकार हुआ।” परन्तु हमारा तात्पर्य तो यहाँ केवल इतना ही सिद्ध करना है कि हिंदू धर्म की वर्तमान मूर्ति पूजा बौद्ध-जैन काल की देन है, और इसका प्राचीन आर्य धर्म से कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

फारसी भाषा का ‘वुत’ शब्द जो स्पष्टतया ‘बुद्ध’ का अपभ्रंश है, यह सिद्ध करता है कि न केवल भारतवर्ष अपितु ईरान आदि देशों में भी सर्व प्रथम जिस मूर्ति की पूजा का प्रचार हुआ अथवा वहाँ के निवासी जिस मूर्ति के सम्पर्क में आये वह मूर्ति ‘बुद्ध’ की थी। फलतः ‘वुत’ शब्द ही मूर्ति का पर्यायवाची बनकर फारसी भाषा में प्रयुक्त होने लगा। अतः ‘वुत’ शब्द भी यही सिद्ध करता है कि मूर्ति पूजा का प्रारम्भ बुद्ध की मूर्ति से हुआ और जहाँ जहाँ बौद्ध धर्म का विस्तार हुआ वहाँ वहाँ मूर्ति पूजा भी प्रचलित होती गई।

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी ‘हिन्दुस्तान की कहानी’ (The Discovery of India) में ठीक हमारे ही उपर्युक्त विचारों की सम्पुष्टि की है। वह इस पुस्तक के भारत और यूनान (India and Greece) शीर्षक अध्याय में पृष्ठ १७२ पर लिखते हैं—

“यह एक अनोरजक विचार है कि मूर्ति पूजा भारत में यूनान से आई। वैदिक धर्म हर प्रकार की मूर्ति तथा प्रतिमा-पूजन का विरोधी था। उस (वैदिक) काल में देव मूर्तियों के किसी प्रकार के मन्दिर नहीं थे। कदाचित् पीछे के सम्प्रदायों में

मूर्तिपूजा के कुछ चिन्ह पाये जाते हैं किन्तु यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि उसका इस देश में विस्तृत प्रभाव नहीं था।

प्रारम्भिक बौद्धमत उसका घोर विरोधी था और बुद्ध की प्रतिमा तथा मूर्ति-निर्माण के विरुद्ध विशेष आज्ञाएं थीं। यूनानी मूर्ति-कला का अफगानिस्तान और सीमान्त प्रदेश के चारों ओर अधिक प्रभाव था और यह शनैः शनैः यहाँ भी प्रविष्ट हो गया। किन्तु इस पर भी प्रारम्भ में बुद्ध की मूर्ति न बना कर 'अपोलो' (यूनान का एक देवता) जैसी 'बोधिसत्वो' की ही मूर्तियाँ बनाई गईं—जो बुद्ध के पूर्व अवतार माने जाते थे। पीछे से स्वयं बुद्ध की मूर्तियाँ निर्माण होने लगीं। हिन्दू धर्म के कुछ सम्प्रदायों ने भी उनका अनुकरण किया, किन्तु वैदिक धर्म निरन्तर इस प्रभाव से मुक्त रहा। फारसी तथा उर्दू भाषा में प्रतिमा अथवा मूर्ति के लिये अब भी 'बुत' शब्द प्रयुक्त होता है, जो बुद्ध का रूपान्तर है।"

"It is an interesting thought that image-worship came to India from Greece. The Vedic religion was opposed to all forms of idol and image-worship. There were not even any temples for the god. There probably were some traces of image-worship in the older faiths of India though this was certainly not widely prevalent. Early Buddhism was strongly opposed to it and there was a social prohibition against the making of image and statues of the Budha. But Greek artistic influence in Afghanistan and round about the frontier was strong and gradually it had its way. Even so, no statues of the Budha

were made to begin with, but Appollo-like statues of Bodhisattavas ( supposed to be the previous incarnations of the Buddha ) appeared. These were followed by statues and images of the Buddha himself. This encouraged image-worship in some forms of Hinduism, though not in the Vedic religion which continued to be free of it. The word for an image or statue in Persian and in Hindustani still is 'But' ( like put ) derived from Buddha."

चीनयात्री फाहियान ने लिखा है, "सबसे पहले राजा प्रसेनजित ने बुद्धदेव की गोशीर्ष चन्दन की प्रतिमा बनाई। बुद्धदेव ने कहा—मरने के उपरान्त यह प्रतिमा चतुर्विध भिक्षु सघ के लिये आदर्श होगी।"

(फाहियान का भारत वृतान्त)

### मूर्ति पूजा का आदि कारणः—

मूर्ति पूजा-प्रसार के, कालांतर में चाहे अनेक कारण बन गये हो, परन्तु मूल रूप में उसके आदि-कारण केवल दो ही हैं—

- (१) पूर्व महापुरुषों की चिरस्थायी स्मृति रखने की लालसा तथा
- (२) अदृश्य वस्तु को भी मूर्तिमान देखने की अज्ञान समुदाय की उत्कण्ठा।

महापुरुषों और महात्माओं की मृत्यु के पश्चात् सर्व साधारण में उनके प्रति सम्मान और श्रद्धा के भाव जागृत रखने के लिए, जिससे वे उनके सदुपदेशों एवं आदर्शों को विस्मृत न करदे, उनके चित्रों अथवा प्रतिमूर्तियों का बुद्धिमान लोगों ने निर्माण किया। किन्तु अज्ञान अथवा स्वार्थवश, कुछ शताब्दियों व्यतीत होने पर उनका जीवित पुरुषों की भाँति पूजा-सत्कार प्रचलित हो गया और यह समझा जाने लगा कि उनकी पूजा और उपासना मात्र से हमारे कष्ट दूर हो सकते हैं। महापुरुषों की

वास्तविक पूजा उनके पग-चिन्हों पर चलना है, इस तत्व को भुला दिया गया। उनकी प्रतिमूर्तियों के सम्मुख खड़े होकर उनसे सहायता के लिये याचना करना अथवा जीवितों की भाँति उनका स्नान, मार्जन, चदन-लेपन, एव भोजन, भेंट सत्कारादि निरर्थक परिक्रियाएँ केवल मनुष्य समाज के अज्ञान और अन्ध विश्वास की परिचायक हैं।

जैसा कि पूर्व लिखा जा चुका है, बौद्ध मूर्ति पूजा का सूत्र-पात ठीक इसी प्रकार हुआ है। जैन, बौद्ध दोनों ही अनीश्वरवादी थे। उनके समक्ष उनके आचार्यों के अतिरिक्त ईश्वर जैसा अन्य आदर्श नहीं था। मानव स्वभाव में ईश्वरोपासना की भावना बीज रूप से निहित है। मनुष्य अल्पज और अपूर्ण है। वह असफलता और निराशावस्था में, अपने से बलवान शक्ति की साहाय्य एव सामोष्य की आवश्यकता का अनुभव करता है। जिन सम्प्रदायों अथवा समाजों में ईश्वर-विश्वास का अभाव है, उनमें अपने आचार्यों अथवा नेताओं की मृत्यु के उपरान्त उनकी समाधियों और प्रतिमूर्तियों की पूजा मानव स्वभाव की उसी असाहाय्य अवस्था की प्रतिक्रिया है। यही कारण है कि जैन और बौद्ध दोनों ही सम्प्रदायों में कुछ पीढियाँ बीतने पर उनके आचार्यों की मूर्तियों का पूजा-सत्कार इस प्रकार होने लगा, मानों वह अब भी जीवित हैं। बौद्ध काल के अन्त में हिन्दुओं ने जैन, बौद्धों का अनुकरण किया और अनेक वैदिक देवताओं की कल्पना के साथ साथ इन्होंने उनकी मूर्तियाँ भी निर्माण करली।

अज समुदाय निगूढ दार्शनिक विचारों के समझने की क्षमता नहीं रखता। उसकी प्रवृत्ति प्रायः इन्द्रियगोचर वृषियों की ओर ही होती है। वह अदृश्य पदार्थों की भी मूर्तिमान् कल्पना करने में ही सन्तुष्ट होता है। निराकार ईश्वर की तीन

शक्तियां ब्रह्मा विष्णु, महेश तथा मरुत, इन्द्र, वरुण, सरस्वती आदि अनेक प्राकृतिक पदार्थों की मूर्तिमान कल्पना, इस प्रवृत्ति का ही फल है। रोग और मृत्यु तक की भयानक मूर्तियों की व्युत्पत्ति, मनुष्य की इसी इच्छा का परिणाम है। विदेशी मूर्ति-पूजा का इतिहास भी ऐसी कल्पनाओं से परिपूर्ण है। वहां भी प्राकृतिक दैवी दुर्घटनाओं को देख कर उनके अधिष्ठातृ देवताओं की कल्पना करली गई।

कुछ विद्वानों का मत है कि बौद्ध प्रचारकों ने चीन, यूनान आदि प्रदेशों में अनेक देवी-देवताओं की मूर्ति पूजा प्रचलित देखी और वे इस भावना को इस देश में अपने साथ लाये। इसी प्रकार विदेशी लोगों के इस देश पर आक्रमण तथा हूण, किरात, आभीर आदि अनेक विदेशी मूर्ति-पूजक जातियों के सम्मिश्रण ने इस देश में न केवल मूर्तिपूजा के विचारों को ही जन्म दिया अपितु उनके अनेक देवी देवताओं की मूर्तियां यहाँ भी पूजी जाने लगी। चतुर स्वार्थी लोग सदा और सर्वत्र जन साधारण की अज्ञता से लाभ उठाया करते हैं। समय व्यतीत होने पर ऐसे ही लोगों ने मूर्तियों के अनेक चमत्कार दिखा कर उनमें दैवी शक्ति सिद्ध करना प्रारम्भ कर दिया और इस प्रकार अनुचित एवं दम्भपूर्ण उपायों द्वारा मूर्ति पूजा को घनोपार्जन का एक साधन बना लिया गया।

चाणक्य ने अपने कौटिल्य अर्थशास्त्र में राजा तक को ऐसे ही उपायों द्वारा राज्य-कर-वृद्धि का अनुचित परामर्श दिया है। चाणक्य को सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रधान मंत्री बताया जाता है और उसका समय भी बौद्ध कालान्तर्गत ही है। वह लिखता है:—

(१) पाखण्डसंघद्रव्यमश्रोत्रियभोग्य देवद्रव्यं वा कृत्यकराः

प्रेतस्य दग्धहृदस्य वा हस्ते न्यस्तमित्युपहरेयुः ॥४३॥

( ) देवाताध्यक्षो दुर्गराष्ट्र देवताना यथा स्वमेकस्थं कोशं कुर्यात् ॥४४॥ तथैव चापहरेत् ॥४५॥

(३) दैवत चैत्यं सिद्धपुण्यस्थानमौपादिक वा रात्रावुथाप्य यात्रा समाजाभ्यामाजीवेत् ॥४६॥

(४) चैत्योपवन वृक्षेण वा देवताभिगमनमनार्तिव पुष्पफल युक्तेन ख्यापयेत् ॥४७॥

(५) मनुष्यकरं वा वृक्षे रक्षोभय रूपयित्वा सिद्धव्यञ्जनाः पौरजानपदानां हिरण्येन प्रतिकुर्युः ॥४८॥

(६) सुरङ्गायुक्ते वाकूपे नाममनियतिशिरस्क हिरण्योपहारेण दर्शयेत् नागप्रतिमायामन्तश्छिद्रायाम् ॥४९॥

(७) चैत्यच्छिद्रे बल्मोकच्छिद्रे वा सपं दर्शनमाहारेण प्रति वन्वसज्ञ कृत्वा श्रद्धानानां दर्शयेत् ॥५०॥

(८) अश्रद्धानानामाचमनप्रौक्षणेण रसमुपचाय्य देवता- भिसापं ब्रूयात् ॥५०॥

अर्थ—(१) किसी भी पाखण्ड से सघ का धन या देवधन जिसे श्रोत्रिय न भोगते हो कृत्यकार (उस्ताद) लोग यह कह कर कोष में पहुँचा देवे कि हमने वह धन किसी ऐसे के यहां रखा था जो मर गया अथवा जल गया ।

(२) देवों के अध्रक्ष की भांति अपने कोष को बढ़ाए उसी प्रकार अपहरण करे ।

(३) रात्रि में उठ कर कही पर देव मन्दिर या सिद्ध स्थान या कोई श्रद्धुत घटना खड़ी करके वहा यात्रा और समाज लगवा देवे और उनसे धन कमावे ।

(४) यदि चैत्य वा वृक्ष में असमय फूल फल आवें तो देवता का आ जाना प्रसिद्ध करे ।

(५) वृक्ष में किसी मनुष्य को छिपा कर, उसके द्वारा राक्षस का भय दिखला कर सिद्ध का स्वाग बनाये और पुर और देश-वासियों के स्वर्ण से उसका प्रतिकार करावे ।

(६—७) सोना भेंट चढाने पर सुरङ्ग वाले कुए में नाग दिखलावे जिसका सिर बंधा रहे । श्रद्धालुओं को छिद्र युक्त नाग की प्रतिमा मे या मन्दिर या बल्मीक के छेद मे नाग का प्रत्यक्ष दर्शन करावे । पहले नाग को कुछ खिला कर सुस्त बना देवे ।

(८) जो अश्रद्धावान हो उनके आचमन और छोटा देने के जल मे कुछ मिला देवे जिससे बेहोश होने पर देवता का कोप बतावे ।

वर्तमान सुधार काल से पूर्व इस देश मे मूर्तियों के ऐसे चमत्कारो पर जनसाधारण का पूरा विश्वास था । लोग मूर्तियों के कोप से भयभीत रहते थे और पण्डे पुजारी उससे पूरा पूरा लाभ उठाते थे । आज भी अशिक्षित जनता मे इस प्रकार के मिथ्या विचार समूल नष्ट नही हुए है ।



## वैदिक काल और मूर्तिपूजा

अति प्राचीन काल से वेदों को आर्य लोग अपौरुषेय मानते चले आ रहे हैं। अन्य सिद्धान्तों में चाहे मतभेद हो किन्तु वेदों के अपौरुषेय अथवा ईश्वरीय ज्ञान होने में आर्य धर्म के सभी सम्प्रदाय एक मत हैं। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, शास्त्र, स्मृति यहाँ तक कि पुराण भी जो आर्यधर्म के वर्तमान विकृत रूप का मूल कारण हैं, एक स्वर से इन्हें ईश्वरीय वाणी उद्घोषित करते हैं, और सृष्टि के आदि में मनुष्यों के प्रादुर्भाव के साथ ही चार ऋषियों पर इनका प्रकट होना वर्णन करते हैं।

पाश्चात्य विद्वान् जिनमें बहुतेको का विकासवाद (Evolution) के सिद्धान्त पर विश्वास है, तथा उनसे प्रभावित इनके अनुगामी भारतीय पंडित, जो वेदों को अपौरुषेय नहीं मानते, कम से कम इतना मानने के लिये विवश हैं कि ऋग्वेद ससार की प्राचीनतम पुस्तक है।

पीछे वेदों के अर्थों को स्पष्ट करने के लिये उन्हें आधारभूत मान कर ऋषियों ने ब्राह्मण, उपनिषद्, एवं शास्त्रादि अनेक ग्रन्थों की रचना की। अतः हमने इन ग्रन्थों के रचनाकाल को भी जो वास्तव में सृष्टि उत्पत्ति काल से बहुत पीछे का समय है, वैदिक कालान्तर्गत परिगणन कर लिया है, और रामायण तथा महाभारत काल से पूर्व के समय को वैदिक काल में ही समाविष्ट किया है।

पूर्व के अध्याय में हमने मूर्तिपूजा की आधुनिकता पर कुछ



प्रकाश डाला है । किन्तु मूर्तिपूजक हिन्दू सम्प्रदाय, मूर्तिपूजा को वेदशास्त्रानुकूल प्रतिपादन करने का समय समय पर प्रयत्न करते रहते हैं । अतः वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् एव शास्त्रों का इस सम्बन्ध में क्या मत है तथा क्या वास्तव में मूर्तिपूजा वेदशास्त्र अनुकूल है, इसी पर इस अध्याय में कुछ विचार किया जायेगा ।

मूर्ति शब्द वैदिक नहीं है अपितु लौकिक है, और जहाँ तक इस शब्द का सम्बन्ध है चारों वेदों में यह कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ । अमरकोष तृतीय काण्ड, नानार्थवर्ग ३. श्लोक ६६ पर लिखा है—मूर्ति. काठिन्य काययोः' । अर्थात् 'मूर्तिः' यह एक नाम कठिनपने और शरीर का है । इस प्रकार 'मूर्ति' शब्दार्थ से सिद्ध है कि वह आकार वाली होनी चाहिये 'आकाराविद्धिता-कृती' । (अमरकोष ३ काण्ड; नानार्थ वर्ग ३, श्लोक १६२) 'आकार आकृति को कहते हैं' । और आकृति वाली वस्तु साकार होती है । जिन मूर्तियों की पूजा की जाती है वे शरीरधारी साकार हैं और सोने, चाँदी, पीतल, ताँबा, लोहे, पत्थर, मिट्टी आदि कठोर धातुओं की बनी हुई होती हैं, अतः 'मूर्ति' शब्द का जो अर्थ ऊपर दिया गया है वह सगत हो है ।

हिन्दुओं में जिन मूर्तियों को पूजा प्रचलित है वे या तो परमात्मा की तीन शक्ति ब्रह्मा, विष्णु, महेश की कल्पित मूर्तियाँ हैं या उनके अवतारों की हैं । अथवा देवताओं, देवदूतों और गुरुओं की हैं । बहुत सी मूर्तियाँ इनकी पत्नियों, पारिवारिकजनों, सेवकों और वाहनो की हैं । शिव-पार्वती जननेन्द्रिय की गहित आकृति 'शिवलिंग' पूजा भी भारतवर्ष में सर्वत्र प्रचलित है ।

जिन मूर्तियों का हमने ऊपर उल्लेख किया है, उनमें एक भी परमात्मा की मूर्ति नहीं है । वेद स्पष्ट कहता है कि परमात्मा की कोई प्रतिमा नहीं है:—

न तस्य प्रतिमा अस्ति, यस्य नाम महद्यशः ।

हिरण्यगर्भं इत्येष मामाहि<sup>७</sup> सीदित्येषा

यस्यमान्न जात इत्येष . यजु० ३२ । ३ ॥

अर्थ—जिसका महान प्रसिद्ध यश है, उस परमात्मा की कोई प्रतिमा नहीं है । हिरण्यगर्भ आदि मन्त्रों द्वारा तथा 'मा मा हिसीत्' इस मन्त्र से, और 'यस्मान्नजात' इन मन्त्रों से उसका वर्णन होता है । अर्थात् उक्त मन्त्रों द्वारा जिसके महान प्रसिद्ध यश का गायन हुआ है, उस परमात्मा की कोई प्रतिमा नहीं है । महीधर ने भी इसका यही भाष्य किया है— तस्य पुरुषस्य प्रतिमा, प्रतिमानुपमान किञ्चद्वस्तु नास्ति अतएव नाम प्रसिद्धं महत् यश यस्यास्ति सर्वातिरिक्त यशः । इत्यादि ।

अर्थात् उस परमात्मा की प्रतिमा, प्रतिमान, उपमान कोई वस्तु नहीं है, इसलिये महत् यश है जिसका, ऐसा वह सबसे अधिक यशवाला है।

उब्बटाचार्य ने भी इसके यही अर्थ किये हैं ।

अतः जब उसकी कोई प्रतिमा, प्रतिमान, उपमान वस्तु ही नहीं है तब उसकी मूर्ति बन ही कैसे सकती है । यही कारण है कि जितनी भी मूर्तियाँ प्रचलित हैं, चाहे वह परमात्मा की शक्तियों की हो चाहे अवतारों की, किन्तु स्वयं परमात्मा की एक भी नहीं है ।

परमात्मा, आकृति और शरीर रहित, निराकार है, अतएव उसकी प्रतिमूर्ति बनाई ही नहीं जा सकती । निम्न वेदमन्त्र परमात्मा के निराकार और अशरीरी होने का स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन करता है ।

सपर्यगाच्छुक्रमकायमन्नरामस्नाविह<sup>७</sup> शुद्धमपापविद्धं ।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथात्थ्यतोऽर्थान्

व्यदधाच्छाश्वनीम्य. सामाम्य. । यजु० ४०।८॥

अर्थ—वह ईश्वर सर्वव्यापक है। जगत्स्रुत्पादक, शरीर रहित, शारीरिक विकार रहित, नाडी और नस के बन्धन से रहित, पवित्र, पाप से रहित, सूक्ष्म-दर्शी, ज्ञानी, सर्वोपरि, वर्तमान, स्वयसिद्ध, अनादि, प्रजा के लिए ठीक ठीक कर्मफल का विधान करता है।

इस वेद मन्त्र में परमात्मा को 'शरीर रहित' शारीरिक विकार रहित एवं 'नाडी, नस के बन्धन से रहित' बताकर उसके साकारत्व का अत्यन्त निषेध किया है।

वेदों में अनेक स्थलों पर परमात्मा का रूपक अलङ्कार द्वारा 'विश्वरूप' में वर्णन किया गया है। उसे देख कर लोग वेदों में ईश्वर का साकारत्व सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया करते हैं। ऐसे कुछ मन्त्र नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात् ।

सभूमिः सर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ यजु० ३१।१॥

अर्थ—सब प्राणियों के हजारों शिर, हजारों नेत्र, असंख्य पाद जिसके बीच में है, ऐसा यह परमात्मा भूगोल में सब ओर से व्याप्त होकर, पाँच स्थूल, पाँच सूक्ष्म भूत जिसके अवयव हैं उस सब जगत् को लाँघ कर स्थित है अर्थात् सब में और सब से प्रथक है।

इस मन्त्र में परमात्मा को 'सहस्रशीर्ष', 'सहस्राक्ष' और 'सहस्रपात्' अर्थात् हजारों शिर, हजारों आँखें और हजारों पैर वाला अलङ्कार रूप से वर्णन किया गया है। सायण, महीधर, उदयन सभी भाष्यकारों ने इस मन्त्र का वही अर्थ किया है जो यहाँ ऊपर दिया गया है। सब प्राणियों के शिर, आँख, पग

आदि उसी परमात्मा के अन्दर विद्यमान हैं इसी से उसे हजारों शिर, आंखो और पैरो वाला कहा है ।

ऋग्वेद का एक मन्त्र ईश्वरीय शक्तियों का ऐसी ही अलकृत भाषा में निम्न प्रकार से वर्णन करता है:—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।

स बाहुभ्या धर्मति सपतत्रैद्यावाभूमीजनयत् देव एकः ॥ ऋ०

१०। ८१। ३॥

अर्थ—जिसके आँख सर्वत्र हैं, सर्वत्र मुख जिसके है, सर्वत्र जिसके बाहु कार्य कर रहे हैं, और सर्वत्र जिसके पाँव हैं। बाहुओं से और पावों से वह सब को चलाता है। इस प्रकार एक देव द्युलोक और पृथ्वी को उत्पन्न करता है। महीधर ने भी आँख, मुख, बाहु, पाँव आदि से उन उन शक्तियों का ग्रहण किया है, साकार इन्द्रियों का नहीं। उदयनाचार्य ने भी न्याय कुसुमांजलि में इसके ऐसे ही अर्थ किये हैं। “विश्वतश्चक्षु” का अर्थ सर्वज्ञ, ‘विश्वतोमुख’ का सर्ववक्ता, ‘विश्वतोबाहु’ का सर्वसहकारिता, ‘विश्वतस्पात्’ का व्यापकता इत्यादि किया है।

अथर्ववेद के कुछ मन्त्र ईश्वर के शरीर का इसी प्रकार अलकृत भाषा में वर्णन करते हैं:—

यस्यभूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् । दिव यश्चक्रे सूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ अ० १० । ७। ३२ ॥

भूमि जिसका पैर है और अन्तरिक्ष उदर है, द्युलोक को जिसने अपना शिर बनाया है, उस महान ब्रह्म को हमारा प्रणाम है ।

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः । अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३३ ॥

सूर्य और बार बार नया होने वाला चन्द्रमा जिसके नेत्र

है, अग्नि को जिसमें अपना मुख बनाया है, उस परम ब्रह्म को हमारा प्रणाम है ।

यस्य वात. प्राणपानी चक्षुरङ्गिमोभवन् । दिशोयञ्चक्रे प्रज्ञानस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणेनम. ॥३४॥

वायु जिसका श्वासप्रश्वास है, अङ्गिरस (प्रकाशमान किरणों) जिसका नेत्र है, दिशाओं को जिसने ज्ञान का साधक (श्रोत्र) बनाया है, उस परम ब्रह्म को हमारा प्रणाम है ।

वेद तथा वैदिक साहित्य में परमात्मा के विराट रूप का ऐसी ही अलङ्कार युक्त भाषा में अनेक स्थलों पर वर्णन है, किन्तु उससे किसी भी प्रकार ईश्वर का साकारत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता । साधारण शिक्षित लोग भी ऐसी भाषा को समझते हैं और उसके वास्तविक अर्थों को जानते हैं । वेदार्थ को न समझने के कारण चाहे किसी भाष्यकार ने वेदों में वह देवता-वाद सिद्ध करने का प्रयत्न किया हो परन्तु किसी भी भाष्यकार ने वेदों में मूर्तिपूजा प्रतिपादित नहीं की । यही कारण है कि अनेक प्रयत्न करने पर भी आज तक मूर्तिपूजा के पक्ष में वेदों का एक भी मन्त्र उपस्थित नहीं किया जा सका । जो मन्त्र उपस्थित किये जाते हैं उनके अर्थ किसी भी प्राचीन अथवा अर्वाचीन भाष्यकार ने मूर्तिपूजा परक नहीं किये ।

उपनिषद् ब्रह्म विद्या के ग्रन्थ हैं । इनका वैदिक साहित्य में वह उच्च स्थान है । यह भी ईश्वर के निराकारत्व का सर्वत्र पोषण एवं साकारत्व का सर्वथा निषेध करते हैं । इसकी पुष्टि में कतिपय उद्धरण नीचे दिये जाते हैं:—

न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनो, न विदमो, न विजानीमो, यथैतदनुशिष्यादन्यदेव द्विदितादयो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्वेषा येनैस्तद् व्याचक्षिरे ॥केन १।३॥

न वहां आँख पहुँचती है. न वाणी जाती है और न मन, इसलिये उसको न जानते हैं न जान सकते हैं, जिससे उसका उपदेश किया जा सके। वह ज्ञात वस्तुओं से प्रथक है और अज्ञात से भी भिन्न है। ऐसा पूर्व आचार्यों से सुनते हैं, जो हमको उसका उपदेश करते हैं।

यद्वाचाऽनभ्युदितं येनवागभ्युच्यते । तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥४॥ यन्मनसा न मनुते, येनाहुर्मनोमतम् । तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥५॥ यच्चक्षुषा न पश्यति, येन चक्षुं पि पश्यति । तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥६॥ यच्छ्रोत्रेण न शृणोति, येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् । तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥७॥ यत्प्राणेन न प्राणिति, येन प्राणः प्रणीयते । तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥८॥

जो वाणी द्वारा प्रकाशित नहीं होता, जिससे वाणी का प्रकाश होता है, उसी को तू ब्रह्म जान, जिसका वाणी से सेवन किया जाता है, वह ब्रह्म नहीं है ॥ ४ ॥ जिसका मन से मनन नहीं किया जाता, जिससे मन मनन करता है, उसी को तू ब्रह्म जान, जिसका मनसे मनन किया जाता है वह ब्रह्म नहीं है ॥५॥ जो आँख से नहीं देखा जाता, जिससे आँख देखती है, उसी को तू ब्रह्म जान, जो आँख से देखा जाता है वह ब्रह्म नहीं है ॥६॥ जो कान से नहीं सुना जाता, जिससे कान सुनता है, उसी को तू ब्रह्म जान, जो कान से सुना जाता है वह ब्रह्म नहीं है ॥७॥ जो प्राण से प्राण के व्यापार में नहीं आता, जिससे प्राण अपना व्यापार करता है, उसी को तू ब्रह्म जान, जो प्राण के व्यापार में आता है वह ब्रह्म नहीं है ॥८॥

उपर्युक्त उपनिषद् वाक्यों में यह स्पष्ट शब्दों में बताया

गया है कि परमात्मा आकार रहित होने के कारण इन्द्रियो द्वारा ग्रहण करने की वस्तु नहीं है ।

अशरीर शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमात्मान मत्वा धीरो न शोचति । कठ० १ । २।२२ ॥

वह परमात्मा लोगो के शरीर मे रहते हुये भी स्वयं शरीर रहिन है । बदलने वाली वस्तुओ मे एक रस है । उस महान विभु आत्मा को जान कर धीर पुरुष शोक मुक्त हो जाता है ।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारस नित्यमगन्धवच्चयत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुव निचाय्य त मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ क० ३।१५

वह ब्रह्म शब्द नहीं, स्पर्श नहीं, रूप नहीं, इस प्रकार रस नहीं और न गन्ध वाला है । वह अविनाशी, सदा एक रस रहने वाला, अनुत्पन्न, सीमारहित, महत्त्व से भी सूक्ष्म, अचल है । उसको निश्चयात्मक रीति से जान कर मनुष्य मौत के मुख से छूट जाता है ।

अणोरणीयान्महतोमहीयानात्मास्यजन्तोर्निहितो गुहायाम् । तमद्रतु पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मन ॥ क० २।२० ॥

ब्रह्म सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म है, बडे से भी बडा है । वह इस प्राणी के हृदयाकाश मे स्थित है । उस आत्मा की महिमा को बुद्धि के निर्मल होने से निष्काम शोक रहित प्राणी देखता है ।

इन्द्रियेभ्य परं मनो मनस सत्त्वमुत्तमम् । सत्त्वादपि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ क०, ६।७ ॥

अव्यक्तात्तु पर पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च । यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्व च गच्छति ॥ क० ६।८ ॥

इन्द्रियों से मन सूक्ष्म है, मन से सूक्ष्म अहंकार है। अहंकार से भी सूक्ष्म महत्त्व है तथा महत्त्व से भी सूक्ष्म प्रकृति और जीवात्मा है। जीव और प्रकृति से भी सूक्ष्म परमात्मा है जो कि व्यापक और चिन्ह आदि से रहित निराकार है। जिसको जान कर मनुष्य दुःखों से छूट जाता है और अमरत्व को प्राप्त होता है।

नसहशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कञ्चनैनम् ।

हृदा मनीषी मनसाभिवृप्तो य एतद्विदुर्मृतास्ते भवन्ति । क० ६ । ६

इस ब्रह्म का कोई रूप सामने नहीं है और न आँखों से इसे कोई देख सकता है, यह हृदय, मन तथा बुद्धि से ज्ञात होता है। जो लोग इसे जानते हैं वह अमृत हो जाते हैं।

यत्तददृश्यमग्राह्यमगोत्रमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं । नित्य विभु सर्वगत सुसूक्ष्मं तद्भूतियोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ मु० १।१।६ ॥

जो परमात्मा न देखा जाता है न पकड़ा जाता है जिसका कोई गोत्र नहीं, वर्ण नहीं, जिसके न नेत्र है न श्रोत्र न हाथ न पांव हैं। वह नित्य है, व्यापक है, सर्वगत है और बड़ा सूक्ष्म तथा अव्यय है। उसी जगत के निमित्त कारण ब्रह्म को धीरे पुरुष सर्वत्र देखते हैं।

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यान्तरोऽजः अप्राणो ह्यमनः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥ मु० २।२।२

वह ब्रह्म निश्चय ही प्रकाशमान, मूर्तिरहित, सर्वव्यापक, बाहर और भीतर सर्वत्र वर्तमान, जन्मरहित, प्राण रहित, मन से शून्य, पवित्र, सूक्ष्म अविनाशी प्रकृति और जीव से सूक्ष्म है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा । ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कल ध्यायमानः—मु० ३।१।८ ॥



वह ब्रह्म ग्राँख से ग्रहण नहीं किया जाता । उसे न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से, न तप से और न कर्म से ग्रहण किया जा सकता है । अपितु ज्ञान की महिमा से शुद्ध अन्त करण वाला होकर ध्यान करता हुआ ही जीव उस कला रहित ब्रह्म को देख सकता है ।

तिलेषु तैल दधिनीव सर्पिराप स्रोतस्वरणीपुचाग्निः एव मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैव तपसा योऽनुपश्यति ॥श्वे० १।१५॥

जैसे तिलो में तेल, दही में मक्खन, स्रोतो में जल और अरणियों में अग्नि, पे-ने, बिलोने, खोदने और रगडने से प्राप्त होती है, इसी प्रकार परमात्मा आत्मा में ग्रहण किया जाता है यदि कोई सत्य और तप से उसे ज्ञान दृष्टि से देखता है ।

सर्वव्यापिनमात्मन क्षीरे सर्पिरिवापितम् । आत्मविद्यातपोमूल तद्ब्रह्मोपनिपत्परम् ॥श्वे० १।१६॥

वह सर्वव्यापी दूध में मक्खन की तरह सब में समाया हुआ है । आत्म विद्या और तप उसकी प्राप्ति का मूल है । वह ब्रह्म, उपनिषद् का परम रहस्य है ।

सर्वत पाणिपाद तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुख । सर्वत श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्यतिष्ठति ॥श्वे० ३।१६॥

सब जगह उसके हाथ और पाँव हैं, सब जगह उसके नेत्र शिर और मुख है । सब जगह उसके कान हैं और वह लोक में सबको घेर कर स्थित है ।

सर्वेन्द्रियगुणाभास सर्वेन्द्रियविवर्जितम् । सर्वस्य प्रभुमीशान सर्वस्यशरण वृहत् ॥श्वे० १।१७॥

सारे इन्द्रियो के गुणों को प्रकाश देता है । परन्तु सारी इन्द्रियो से रहित है । वह सबका स्वामी, सब पर शासन करने वाला तथा सबका शरण है !

अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः सशृणोत्यकर्णं ।  
सवेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुष्पं महान्तम् -

श्वे० ३।१६

वह बिना हाथ के सबका ग्रहण करने वाला तथा बिना पांव के वेग वाला है । बिना नेत्र के देखता और बिना कान के सुनता है । वह हर एक जानने योग्य वस्तु को जानना है पर उसका अंत जानने वाला कोई नहीं । ज्ञानी लोग उसको मुख्य महान पुष्प कहते हैं ।

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य सृष्टारमनेकरूपम् ।  
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारम् ज्ञात्वाशिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥

श्वे० ४।१४॥

वह ईश्वर सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है । वह इस जगत् और उसके प्रत्येक पदार्थ में व्यापक है । उसी ने इस विश्व और उसके रूप वाले पदार्थों को रचा है वह सारे संसार को घेरे हुए है । उसी कल्याण स्वरूप प्रभू को जान कर मनुष्य अत्यन्त शान्ति को प्राप्त होता है ।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।  
परास्य शक्तिविविधं व श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

श्वे० ६।८॥

उसका कोई कार्य नहीं, उसके इन्द्रियादि करण नहीं । उसके समान और न उससे कोई अधिक है । उसकी शक्ति सबसे महान है । उसमें ज्ञान, बल तथा कार्य करने की शक्ति स्वभाव से है ।

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेजिता नैव च तस्य लिगम् ।  
स कारणं कारणाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥

श्वे० ६।९॥

लोक में कोई उस परमात्मा का पति नहीं, न उस पर कोई

शासन करने वाला है और उसका न कोई चिन्ह है। वह जगत का निमित्त कारण है। वह इन्द्रियो के स्वामी जीवात्माओ का भी स्वामी है। वह न किसी से उत्पन्न हुआ है और न उसका कोई स्वामी है।

उपर्युक्त समस्त उपनिषद् वाक्य जहाँ परमात्मा को मुस्पष्ट रूप में निराकार वर्णन करते हैं वहा यह भी बताते हैं कि उसे शुद्ध अ त.करण से ध्यान द्वारा ही जीवात्मा में ग्रहण किया जाता है। अतएव “मूर्तिपूजा ईश्वर प्राप्ति का साधन है” इस युक्ति का भी स्वतः निराकरण हो जाता है। वेद भी ईश्वर प्राप्ति की इसी विधि की निम्न शब्दों में निरूपण करते हैं:—

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः, ।

विहोत्रादधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्कृतिः ।

ऋ० ५।८१।१

युक्ते मनसा वय देवस्य सवितु सवे, स्वर्गाय शक्तया ।

यजु० ११।२

युजेवा ब्रह्मपूर्व्यं नमोभिविश्लोक एतु पश्येव सूर.

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आपे धामानि दिव्यानि नस्यु ।

यजु० ११।५

अर्थात् बड़े बड़े यज्ञ याग करने वाले और विद्वानों से भी अधिक विद्वान अपना मन और बुद्धि उस एक ही महान देवाधिदेव परमात्मा में युक्त करते हैं। पूरी शक्ति से हम लोग स्वर्गीय सुखों के लिये अपने मन को सविता देव में जोड़ते हैं। सब लोग यह बात कान खोल कर सुनले कि पूर्वजों ने योग बल से ही प्रकाश मार्ग से यात्रा की है, इसलिये जो योग करेगा, ब्रह्म में मन लगायेगा वही इस उत्तम गति को प्राप्त होगा।

बुद्धिवाद, अर्थात् तर्क और युक्ति का जहाँ तक सम्बन्ध है, दर्शन शास्त्रों का वैदिक साहित्य में सर्वोच्च स्थान है। वैदिक

साहित्य ही क्यों, यदि यह कहा जाय कि दर्शन शास्त्र ससार में प्रचलित बुद्धिवाद के उद्गम है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। दर्शनों में आज से हजारों वर्ष पूर्व जिन सूक्ष्म तत्वों पर विचार किया गया है वे अब भी पाश्चात्य विज्ञान की पहुँच से परे हैं। इनकी अद्भुत शृंखलाबद्ध तर्क शैली ससार को चकित किये बिना नहीं रह सकती। इन भारतीय बुद्धि-भंडार में से कुछ रत्न जिनमें ईश्वर के स्वरूप पर विचार किया गया है, वेदान्त दर्शन से उद्धृत करते हैं:—

पत्युरसामञ्जस्यात् । वे० २ । २। ३७॥ सम्बन्धानुपपत्तेश्च । ३८ ॥  
अधिष्ठानानुपपत्तेश्च । ३९ ॥ करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः । ४० ॥  
अन्तवत्वमसर्वज्ञतावा । ४१ ॥ उत्पत्य सभवात् । ४२ ॥ न च  
कत्तुर्कः करणम् । ४३ ॥ विज्ञानादिभावे तदप्रतिषेधः ॥ ४४ ॥  
विप्रतिषेधाच्च-।-४५ ॥

युक्ति शून्य होने से परमात्मा का साकार होना ठीक नहीं। ३७॥ साकार ईश्वर का जगत के उपादान प्रकृति के साथ सम्बन्ध न बन सकने के कारण भी उक्त 'साकारवाद' पक्ष ठीक नहीं। ३६॥ सांकार वस्तु के लिये स्थान की आवश्यकता होती है, परन्तु परमात्मा का कोई एक स्थान नहीं अतः वह साकार नहीं। ६९॥ यदि परमात्मा को इन्द्रियो वाला माना जाय तो हमारी तरह उसे भी सुख दुःखादि भोग की आपत्ति होगी। अतः वह साकार नहीं। ४० ॥ यदि परमात्मा को देहधारी माने तो अन्त वाला मानना पड़ेगा और असर्वज्ञ ठहरेगा। अल्पज्ञ मानने से वह परमात्मा नहीं हो सकता ॥ ४१ ॥ ईश्वर का जन्म असम्भव होने से भी उक्त पक्ष की सिद्ध होती है ॥ ४२ ॥ परमात्मा कर्ता के कोई कारण (इन्द्रियादि) नहीं है ॥ ४३ ॥ परमात्मा में सर्वज्ञादि धर्म पाये जाने से एक रस होने के कारण उसकी उत्पत्ति

नहीं-ही सकती । ४४ ॥ साकार और निराकार दोनों का विरोध होने से निराकार परमात्मा साकार नहीं हो सकता । ४५ ॥  
अरूपवदेव हितप्रधानत्वाद् । ३ । २ । १४

निराकारता बोधक वाक्यो की प्रधानता पाए जाने से भी परमात्मा निराकार है ।

तदव्यक्तमाहही । वे० ३ । २ । २३

निश्चय करके ब्रह्म को अव्यक्त कथन किया गया है ।

अदृश्यत्वादिगुणकी धर्मोक्तः । वे० १ । २ । २१ ॥

निराकारादि उसके धर्म कहे जाने से परमात्मा अदृश्यत्वादि गुणो वाला है ।

ईश्वर-निराकारत्व विषयक वेदान्त दर्शन के जो सूत्र ऊपर दिये गये है वे किमी टीका टिप्पणी की अपेक्षा नहीं रखते । इन सूत्रो मे विस्पष्टरूप मे ईश्वर को निराकार सिद्ध किया गया है और उसकी सिद्धि में अनेक तर्क पूर्ण युक्तियाँ दी गई है ।

“ईश्वर-प्राप्ति का क्या साधन है ?” इस विषय पर पतञ्जलि मुनि ने एक अपूर्व ग्रन्थ की जो ‘योग-दर्शन’ के नाम से सुप्रख्यात है, प्रथक ही रचना की है । इस दर्शन मे चित्त की वृत्तियों को रोकना, अर्थात् वाह्य विषयो से चित्त को हटा कर जीव का अपने स्वरूप मे स्थित हो जाना इत्यादि, जीव तथा ईश्वर के योग (मिलाप) का साधन बताया गया है —

योगश्चित्तवृत्तिनिरोध । समाधिपाद ॥ २ ॥ तदा द्रष्टु-  
स्वरूपेऽवस्थानम् ॥३॥ योग चित्त को वृत्तियों के रोकने को कहते हैं ॥२॥ तब द्रष्टा (जीव) की अपने रूप मे स्थिति हो जाती है ॥ ३ ॥ विस्तारभय से यहाँ अधिक नहीं लिखा जा रहा ।  
“मूर्ति पूजा और योग साधन,” इस विषय पर इस पुस्तक में अन्यत्र एक पृथक अध्याय लिखा गया है । अतः इस सम्बन्ध मे वही विचार किया जायगा ।

मनुस्मृति— जो मानव धर्म शास्त्र के नाम से सुप्रसिद्ध है आर्य जाति की एक अमूल्य निधि है। भगवान मनु ने जिन वैयक्तिक, सामाजिक, राजनैतिक कर्तव्याकर्तव्य कर्मों का सार्व-भौमिक रूप में इस ग्रन्थ में उपदेश दिया है, वे आज भी मनुष्य समाज में पथ प्रदर्शन की क्षमता रखते हैं। मनुस्मृति के आरम्भ में ही सृष्टि-उत्पत्ति-विषय पर विचार करते हुए ईश्वर के स्वरूप का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। यहाँ पर भी परमात्मा को अचिन्त्य, अप्रमेय, अनादि, इन्द्रियातीत, परमसूक्ष्म, आकाररहित उपलक्षणों वाला बताया गया है।

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य निधानस्य स्वयंभुवः । अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यं तत्त्वार्थं वित्प्रभो ॥३॥ अ० १ ।

क्योंकि सम्पूर्ण वेद के कार्य के यथार्थ प्रयोजन के जानने वाले आप (मनु) एक ही हैं। जो वेद कि अचिन्त्य, अप्रमेय अनादि परमात्मा का विधान है ॥३॥

ततः स्वयंभूर्भगवान् व्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् । महा भूतादिवृत्तौजा प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥६॥ योसाऽवतौन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः सर्वभूतमयोऽचिन्त्य स एव स्वयमुद्वभौ ॥७॥ अ० १ ।

इस दशा के अनन्तर उत्पत्तिरहित और इन्द्रियों से न जानने योग्य प्रकृति को प्रेरणा करने वाले, महत्त्व, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी आदि कारणों के बल से युक्त परमात्मा ने इनको प्रकाशित करके अपने को प्रकट किया ॥ ६ ॥ जोकि इन्द्रियों से नहीं जाना जाता और परमसूक्ष्म, नित्य और सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त तथा आकार रहित, अतएव अचिन्त्य है, वही अपने आप प्रकट हुआ ॥७॥

इन श्लोकों में परमात्मा के प्रकट होने का अभिप्राय जगह अथवा विराट रूप में प्रकट होने से है। इनकी शैली वैसी ही

अलंकारयुक्त है जैसी कि वेद के कुछ मंत्रों की पूर्व दी जा चुकी है। आगे के श्लोकों में इसी प्रकृति रूपी शरीर से मृष्टि-उत्पत्ति का सविस्तार वर्णन किया गया है। मनुस्मृति के छठवे अध्याय में भी योग द्वारा ही ईश्वर प्राप्ति का वर्णन किया है वैसे अनेक स्थलों पत्रयज्ञादि नित्यकर्मों का सबको उपदेश किया गया है:-

सूक्ष्मता चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः । ६५ । अ० ६ ॥

योग से परमात्मा की सूक्ष्मता का ध्यान करे।

प्रियेषु स्वेषु सुकृतम् प्रियेषु च दुष्कृतम् । विसृज्य ध्यानयोगेन  
ब्रह्माभ्येति सनातनम् ॥ ७६ । अ० ६ ॥

अपने प्रिय में सुकृत और अप्रिय में दुष्कृत को छोड़कर ध्यानयोग से सनातन ब्रह्म को प्राप्त होता है

मनुस्मृति को आद्योपान्त पढ़ने पर सहज ही में कोई यह अनुमान लगा सकता है कि इस ग्रन्थ में बहुत कुछ पीछे से सम्मिश्रण किया गया है। इसमें इतने परस्पर विरोधी स्थल हैं जिन्हें देखकर दूसरों का हस्ताक्षेप स्पष्ट दृष्टिगत होता है। इस प्रकार यज्ञों में पशुबलि, मदिरा माँस भक्षण, जन्मगत वर्णव्यवस्था, मृतक श्राद्ध आदि वाममार्ग कालीन कुप्रथाओं का समर्थन परन्तु साथ ही उनके विरोध सूचक अनेक श्लोकों की विद्यमानता एव प्रधानता इसके प्रबल प्रमाण है। इन प्रक्षिप्त भागों के होते हुए भी समस्त मनुस्मृति में मूर्तिपूजा अथवा अवतारवाद के समर्थन में एक भी श्लोक ढूँढे नहीं मिलता। अतः परिणाम पर पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं रहती कि मूर्तिपूजा का जन्म-काल मनुस्मृति के प्रक्षिप्त-काल से भी कहीं पीछे का है। हाँ, पत्रयज्ञविधि-संध्या, अग्निहोत्र आदि एवं ओङ्कार तथा गायत्री जाप को आवश्यक नित्यनैमित्तिक कर्म बताया है, जिससे

मूर्तिपूजा का, हमारी दैनिक विधि में, स्वयमेव खण्डन हो जाता है। मनुस्मृति के ऐसे कुछ श्लोक हम नीचे देते हैं:—

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा ।

नृत्यज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥४।२१॥

सध्या, स्वाध्याय, अग्निहोत्र, बलिर्वैश्व, अग्निथि तथा पितृयज्ञ को यथाशक्ति कभी न छोड़े और सदा करता रहे।

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचं समाहितः ।

पूर्वां सन्ध्यां जपस्तिष्ठेत्स्वकाले चापराचिरम् ॥४।६३

ब्राह्म मुहूर्त में उठकर और आवश्यक कार्य मलमूत्र त्याग आदि करके, शुद्ध और सावधान होकर प्रातःकाल की और यथा समय दूसरे काल की सन्ध्या देर तक करे।

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा ।

दर्शने चाद्धं मासान्ते पूर्णमासेन चैव हि ॥४।२५॥

दिन और रात्रि के आदि में नित्य अग्निहोत्र करे और अर्ध-मास के अन्त में आमावास्या और पूर्णिमा को यजन करे।

मङ्गलाचारयुक्तः स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः ।

जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः ॥४।१४५॥

उत्तम आचार से युक्त होकर, एवं सयत आत्मा तथा जितेन्द्रिय होकर नित्य निरालस्य होकर जप करे और अग्निहोत्र भी करे।

पूर्वां सन्धाजपस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात् ।

पश्चिमांतु समासीनः सम्यगृक्षविभावेनात् ॥२।१०१॥

प्रातः काल की सन्ध्या, गायत्री का जाप करता हुआ, सूर्य-दर्शन होने तक स्थित होकर और सायंकाल की सन्ध्या नक्षत्र दर्शन होने तक बैठकर करे।



ओकारपूर्विकास्तिस्रोमहाव्याहृतयोऽव्ययाः ।

त्रिपाञ्चैवसावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणोमुखम् ॥२।८१॥

ओङ्कार से युक्त तीन अविनाशी महाव्याहृति और त्रिपदा गायत्री वेद का मुख है ।

योऽधीतेऽहन्येतास्त्रीणिवर्षाण्यतन्द्रितः ।

स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमाव् ॥२।८२॥

जो पुरुष प्रतिदिन आलस्यरहित होकर तीन वर्ष पर्यन्त ओं, व्याहृति और गायत्री का जप करता है, वह परब्रह्म को प्राप्त होता है और वायुवत शरीरवधन से मुक्त हो जाता है ।

ऊपर दिये गये वेद, उपनिषद् एव शास्त्रों के विविध उद्धरणों से यह भली प्रकार सिद्ध है कि ईश्वर निराकार है और इन्द्रियो का विषय नहीं है । तब उसको प्रतिमा अथवा मूर्ति बन हो कैसे सकती है ? इन उद्धरणों से यह भी सिद्ध है कि समस्त वैदिक साहित्य में मूर्तिपूजा को कही और किसी भी अवस्था में ईश्वर प्राप्ति का साधन नहीं बताया गया । अतएव वेदशास्त्रों के नाम पर जो लोग मूर्तिपूजा का प्रचार करते हैं, उन्होंने या तो उनका भलीभाँति अनुशीलन नहीं किया या फिर पक्षपात एव स्वार्थवश सचाई पर पर्दा डालना चाहते हैं ।



## मूर्तिपूजा और अवतारवाद

जिस समय मूर्तिपूजा की कल्पना की गई उस समय यह भी आवश्यक हुआ कि ईश्वर को साकार सिद्ध किया जाय। क्योंकि बिना साकार सिद्ध किये उसकी मूर्ति अथवा प्रतिमा बन ही कैसे सकती है। अतः उसकी मूर्ति ब्रह्मा-विष्णु-महेश, ईश्वर के तीन साकार रूप कल्पित करके की गई। ब्रह्मा, विष्णु, महेश यह एक ही ईश्वर के तीन गुणवाचक नाम हैं। परमात्मा सृष्टि रचता है, अतः उसका नाम ब्रह्मा, सृष्टि का पालन करता है. अतः विष्णु और सहार करता है, इसलिये महेश अथवा रुद्र है। यह तीनों कोई पृथक शरीरधारी ईश्वर अथवा उसकी साकार शक्तिया नहीं है, अपितु उपर्युक्त तीनों गुणों के आधार पर हम ईश्वर को तीनों ही नामों से पुकारते हैं।

इसी प्रकार वेदों में ईश्वर के अनेक गुणवाची नामों का वर्णन है। जिन्हें आगे चलकर लोगो ने अज्ञान-वश पृथक-पृथक ईश्वर अथवा देव समझ लिया। कवियों ने उनका गुणगान किया, चित्रकारों ने उनके चित्र बनाकर अपनी कला का परिचय दिया और अन्त में मूर्तिकारों ने उनकी मूर्तियाँ निर्माण कर दी। जहाँ तक कला का सम्बन्ध है, इसमें कोई दोष भी नहीं, किन्तु कालान्तर में जब स्वार्थ अथवा अज्ञान-वश इनकी जीवित महा-पुरुषों के समान भेंट-पूजा का प्रचार चल पडा और जन साधारण की सन्तुष्टि के लिये उनमें प्राण प्रतिष्ठा एवं चमत्कारों का आरोप किया गया, उसी समय से उसका घोर दुरुपयोग प्रारम्भ हो गया।

वर्तमान हिन्दू समाज में अवतारवाद, निराकार परमात्मा को साकार बनाने की एक दूसरी कल्पना है। ईश्वर निराकार तो है किन्तु अवतार धारण करके साकार शरीरी भी बन जाता है, और जिन मूर्तियों की पूजा की जाती है, वे उन्हीं अवतारों की प्रति मूर्तियाँ हैं, ऐसा सर्वसाधारण का मत है। इस प्रकार देखा जाय तो अवतारवाद और मूर्तिपूजा का जुड़वाँ भाई वहन का सा घनिष्ठ सम्बन्ध है और बहुत अंशों में यह एक दूसरे पर आश्रित है।

ईश्वर इस पृथ्वी पर शरीर धारण करके क्यों अवतरित होता है ? उसे इसकी क्या आवश्यकता होती है ? इसके लिये भी पुराणों में, जिनके लेखक ही वास्तव में मूर्तिपूजा के जन्मदाता हैं और जिनका समय भी मूर्तिपूजा की भाँति केवल कुछ हजार वर्ष ही है, अनेक रोचक कथाएँ तथा उपाख्यानों द्वारा अनेक कल्पनाएँ की गई हैं। पुराणों में चौबीस, जिनमें मुख्य दस हैं, अवतारों की कल्पना की गई है। इनमें कुछ को छोड़कर सब ही को विष्णु का पूर्ण अथवा आंशिक अवतार माना गया है। कुछ अवतार नर रूप हैं, जैसे राम, कृष्ण, बुद्ध, शंकर इत्यादि और कुछ पशु रूप हैं, जैसे कच्छ, मच्छ तथा सूकर। किन्तु इन समस्त अवतारों में विष्णु की प्रधानता यह सिद्ध करती है कि इस वाद की कल्पना का सूत्रपात्र वैष्णवों द्वारा किया गया।

अवतारवाद के पक्ष में जो युक्तियाँ दी जाती हैं, वे बहुत निर्बल और लचर हैं। प्रथम तो निराकार और साकार एक वस्तु के दो विरोधी गुण हो ही नहीं सकते। ईश्वर या तो निराकार है या साकार। यदि उसका भी जीव की भाँति शरीर धारण करना मान लिया जाय, तो ईश्वर भी ईश्वर न रह कर जीव ही बन जाता है।

ईश्वर को क्या आवश्यकता अनुभव हुई, जिससे उसे गरीर धारण करना पड़ा ? इस प्रश्न के उत्तर में प्रायः गीता के प्रसिद्ध श्लोक जो हिन्दुओं में एक लोकोक्ति बन गये हैं —

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदा ऽऽत्मानं सृज्याम्यहम् ॥७॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८ अ० ४।

उद्धृत किये जाते हैं। इसी प्रकार श्रीमद् भागवत जो वैष्णव सम्प्रदाय का मूल ग्रन्थ है, का निम्न श्लोक भी यही आशय प्रकट करता है.—

यदा यदा हि धर्मस्य क्षयोवृद्धिश्च पाप्मान् ।

तदातु भगवानीश आत्मानं सृजते हरि ॥५६॥ स्क० ६ अ० २४।

उपर्युक्त श्लोकों का यही भाव है कि जब-जब धर्म का क्षय होने लगता है और पाप बढ़ जाता है, तब-तब भद्र पुरुषों की रक्षा करने एवं धर्म के स्थापनार्थ परमात्मा अवतार लेता है। किन्तु देवी भागवत में जो शाक्त सम्प्रदाय का प्रसिद्ध मुख्य पुराण है इस युक्ति की तीव्र आलोचना की गई है:—

माया विमोहिता मन्दा प्रवदन्ति मनीषिणः ।

करोति स्वेच्छया विष्णुरवताराननेकशः ॥४७॥

मन्दोऽपि दुःखगहने गर्भवासे ऽतिसंकटे ।

न करोति मनि विद्वान् कथं कुर्यात् स चक्रभृत् ॥४८॥

कौसल्या देवकीगर्भे विष्णामल समाकुले ।

स्वेच्छया प्रवदन्त्यद्वागतो हि मधुसूदन. ॥४९॥

वैकुण्ठमदनं त्यक्त्वा गर्भवासे सुखं नु किम् ।

चिन्ताकोटिममुत्थाने दुःखदे विपसंमिते ॥५०॥

(देवी भागवत स्क० ३ अ० २६)

अर्थात् माया से मोहित हुये मूर्ख विद्वान् कहते हैं कि विष्णु अपनी इच्छा से अवतार लेता है। मूर्ख मनुष्य भी दुःख से परिपूर्ण कष्ट युक्त गर्भवास की इच्छा नहीं करता पुनः वह चक्र-धर विष्णु कैसे कर सकता है ? लोग कहते हैं कि मलमूत्र से पूर्ण कौसल्या और देवकी के गर्भ में विष्णु स्वेच्छा से गया। भला बैकुंठ को छोड़कर कोटि चिन्ताओं को उत्पन्न करने वाले कष्टदायक विषतुल्य गर्भवास में सुख ही क्या है ?

इसी प्रकार अन्य पुराणों में भी अवतार का कारण वर, शाप और शुभाशुभ कर्म बतलाया है। शरीर की उत्पत्ति के लिये जिन बातों की आवश्यकता है वह परमात्मा में नहीं घटती। आत्मा, देह, इन्द्रिय और मन के सम्बन्ध का नाम जन्म है। जन्म से सुख दुःख हुआ करता है। जन्म के लिये धर्माधर्म रूप कारण का होना, धर्माधर्म के लिये प्रवृत्ति, प्रवृत्ति के लिये रागद्वेष और रागद्वेष के लिये मिथ्याज्ञान होना आवश्यक है। परन्तु परमात्मा में मिथ्याज्ञान का सर्वथा अभाव है अतः उसका जन्म असम्भव है। महामुनि पतञ्जलि ने—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर ॥यो०१।२४॥

अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष, अभिनिवेश इन पाँच क्लेशों से उत्पन्न होने वाले कर्म और कर्मफल एव वासना से जो रहित है, वही ईश्वर है—इस सूत्र में भी इसी बात को स्पष्ट किया है।

कुछ लोग समझते हैं कि जिस प्रकार जीवात्मा विना शरीर के कार्य करने में असमर्थ है, उसी प्रकार ईश्वर भी विना शरीर धारण किये सृष्टि रचना नहीं कर सकता, किन्तु लोग भूल जाते हैं कि जीव एक देशीय है और ईश्वर सर्वव्यापक है। जो शक्ति प्रत्येक परमाणु के भीतर व्याप्त है, उसके लिये इन

परमाणुओं को गति देने के लिए किसी बाह्य कारण अथवा अवयव की आवश्यकता नहीं। जीव को एक देशीय होने के कारण शरीरादि साधनों की आवश्यकता है किन्तु परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, अतः उसे बाह्य साधन अपेक्षित नहीं।

वास्तव में यदि हम निष्पक्ष होकर विचारें तो अवतारवाद ईश्वर की महत्ता पर एक कलङ्क है, जो ईश्वर सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान है, उसे साधुओं की रक्षा और दुष्टों के विनाशार्थ जन्म मरण के बधन में आने की आवश्यकता ही क्या है ? जो परमात्मा रावण, कर्सादि दुष्ट राक्षसों के जन्म देने की सामर्थ्य रखता है, क्या वह उनका बिना शरीर धारण किये विनाश नहीं कर सकता ? बनाना बिगाड़ने से दुष्कर है। अतः दुष्टों का विनाश करने के लिए उसका शरीर धारण करने की कल्पना ही सर्वथा निर्मूल एव निराधार है। ससार का इतिहास साक्षी है कि प्रत्येक काल और प्रत्येक देश में दुष्ट आततायी होते रहते हैं और उनका राजा अथवा ससार के वीर पुरुषों द्वारा विनाश भी होता रहता है। इसके लिये ईश्वरावतार की आवश्यकता ही क्या है ? कौनसा कार्य है जिसे ईश्वर बिना शरीर धारण किये नहीं कर सकता ?

जो लोग राम, कृष्ण आदि महान् ऐतिहासिक पुरुषों को ईश्वरावतार बताते हैं, सत्य तो यह है कि जहां एक ओर वे इन्हे ईश्वरावतार बताकर उनके पराक्रमयुक्त कार्यों का महत्व घटाते हैं, वहाँ दूसरी ओर जन-माधारण को इनके इन कार्यों से प्रोत्साहन ग्रहण करने में भी बाधक सिद्ध होते हैं। यदि राम ईश्वर है तो उनका कोई भी कार्य महत्वपूर्ण नहीं। ईश्वर के लिये तो यह कार्य नितान्त साधारण है। यही बात अन्य अवतारों लिये भी कही जा सकती है। जब एक व्यक्ति यह देखता है कि

जो पराक्रम राम अथवा कृष्ण ने किये हैं, वे ईश्वरीय कार्य हैं तो उसे उनके अनुकरण करने का साहस ही उत्पन्न नहीं होता। वह अपने को एक तुच्छ जीव समझ कर अपनी असमर्थता का अनुभव करता है। अवतारवाद का सिद्धान्त, मूर्तिपूजा की भांति ही हिन्दुओं को नपुंसक बनाने में बहुत कुछ सहायक सिद्ध हुआ है। इसका परिणाम है कि ससार की जातियाँ अपने बाहुबल से कहीं कहीं पहुँच गईं किन्तु अभागी हिन्दू जाति हाथ पर हाथ रखे कलिक अवतार की आज भी बाट देख रही है। इस प्रकार इस 'वाद' से लाभ के स्थान पर एक ऐसी हानि हो रही है जिसकी पूर्ति बिना इस मिथ्या विचार को हटायें नहीं हो सकती।

वेद, उपनिषद्, शास्त्र सभी ईश्वर को अजन्मा एव निर्विकार प्रतिपादन करते हैं। सब ही उसको जीवन मरण के बन्धन से मुक्त बताते हैं.—

अजो नक्षा दाधार पृथ्वी तस्तम्भ द्या मन्त्रेभिः सत्यं । प्रिया  
पदानि पश्वो निपाहि विश्वायुरग्ने गुहा गुहगा । ऋ० १।६७।३

अर्थ — जैसे अज अर्थात् न जन्म लेने वाला अजन्मा परमेश्वर न टूटने वाले विचारों से पृथिवी को धारण करता है, विस्तृत अन्तरिक्ष तथा द्योलोक को पकड़े हुए है। प्रीतिकारक पदार्थों को देता है। सम्पूर्ण आयु देने वाला, बन्धन से सर्वथा छुड़ाता है। बुद्धि में स्थित हुआ वह गोप्य पदार्थ को जानता है। वैसे तू भी हे विद्वान् जीव हमें प्राप्तव्य की प्राप्ति करो।

शन्नो अज एक पाद्देवोऽस्तु शन्नोऽद्विबुद्धन्यं यं नमुद्रं ।

शन्नो अपा नपात्पेरुरस्तु शन पृथिनर्भवतु देवगोपा ॥

एक पात् अजन्मा परमात्मा हमारे लिये कल्याणकारी होवे । अन्तरिक्ष में होने वाले मेघ हमारे लिये कल्याणकारी हो । समुद्र सुखदायी हो । पाद रहित होकर जलो को पार करने वाली अर्थात् नौका आदि हमारे लिये सुखकारक हो । सूर्यादि की रक्षा करने वाला अन्तरिक्ष हमारे लिये सुखकारी हो ।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर जायमानो बहुधा विजायते ।

तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थर्भुवनानि विश्वा ॥

यजु० ३१ । १६ ॥

अपने स्वरूप से उत्पन्न न होने वाला अजन्मा परमेश्वर, गर्भस्थ जीवात्मा और सबके हृदय में विचरता है । और बहुत प्रकारो से विशेष कर प्रकट होता है । उसके स्वरूप को धीर लोग सब ओर देखते हैं । उसमें सब लोक लोकान्तर स्थित है ।

ब्रह्म वा अजः । शतपथ० ६ । ४ । ४ । १५ ।

ब्रह्म ही अजन्मा है ।

उपनिषदो में भी परमात्मा को स्थान-स्थान पर अजन्मा वर्णन किया गया है:—

वेदाहमेतमजर पुराणं सर्वात्मान सर्वगत विभुत्वात् ।

जन्म निरोध प्रवदन्ति यस्य ब्रह्म वादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ।

श्वे० ३ । २१ ॥

मैं उस ब्रह्म को जानता हूँ जो पुराना है और अजर है । सबका आत्मा और विभु होने से सर्वगत है । ब्रह्मवादी जिसके जन्म का अभाव बतलाते हैं क्योंकि वह नित्य है ।

एकैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवं ।

विरजः पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुवः ॥

वृ० ४।४। २७

इस अविनाशी अप्रमेय ब्रह्म को एक ही प्रकार से देखना



चाहिए, यह मल से रहित, आकाश से परे, जन्म रहित आत्मा महान् अविनाशी है ।

दिव्योद्दामूर्त्तं पुरुषं स वाह्याभ्यन्तरोद्दयज ।

अप्राणोद्दामना शुभ्रो ह्यक्षरात् परत पर ॥मुण्ड०॥ २।१।

वह दिव्य पुरुष विना मूर्ति के है, बाहर और अन्दर दोनों जगह विद्यमान है । विना प्राण और मन के हैं । शुभ्र है और अव्यक्त प्रकृति के परे है ।

अज ध्रुव सर्वतत्त्वैर्विशुद्ध ज्ञात्वा देव मुच्यते ज्ञात्वा सर्वपाशं ॥

श्वे० २।४

अजन्मा ध्रुव सारे तत्वो से अलग परमात्मदेव को ब्रह्म तत्वदर्शी जानकर पाशो से छूट जाते हैं ।

स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतो ऽभयो ब्रह्म ।

वृ० ४।४।२५॥

वह महान अजन्मा आत्मा अजर, अमर, अभय, अमृत ब्रह्म है ।

दर्शनशास्त्र भी परमात्मा को अजन्मा ही बताते हैं.—

उत्पत्यसभवात् । वेदान्त २।२।३१

ईश्वर के जन्म का असम्भव पाये जाने से उसका कोई कर्त्ता नहीं ।

न च कर्त्तुं करण । वे० २।२।४०

और न उस कर्त्ता परमात्मा का कोई करण इन्द्रियादि है ।

करणवच्चेन्न भोगादिभ्य । वे० २।२

इस पर श्री स्वा० शंकराचार्य का भाष्य देखने योग्य है—

लोकदृष्टं यनुमारेण ईश्वरस्यापि किञ्चत्करणं नामायन घरीरं कामेन कल्प्यते । एवमपि नोपपद्यते । स शरीरत्वे हि नति ससारी वद् भोगत्वप्रनगादीश्वरस्याप्यनीश्वरत्व प्रसज्येत् ।

अर्थात् लोक दृष्टि के अनुसार परमात्मा का भी इन्द्रियों का अधिष्ठान यदि शरीर माने तो ठीक नहीं क्योंकि ईश्वर के शरीर वा इन्द्रियादि मानने से उसे भी ससारी जीवों की तरह सुख दुःख भोक्ता मानना पड़ेगा और ऐसा मानने से ईश्वर भी अनीश्वर हो जायगा ।

अवतारवाद के खडन में जितने भी प्रमाण यहाँ उद्धृत किये गये हैं, वे किसी टीका टिप्पणी की अपेक्षा नहीं रखते । समस्त प्राचीन वैदिक साहित्य इस वाद का सर्वथा निषेध करता है । अतः सिद्ध है कि वैदिक काल से बहुत पीछे जब मूर्ति पूजा की सृष्टि की गई तो ईश्वर को साकार सिद्ध करने के लिये अवतारवाद की कल्पना की गई ।

कुछ लोग वेद शास्त्रों में 'मूर्तिपूजा न करो' अथवा 'ईश्वर अवतार नहीं लेता' इस प्रकार विरोध सूचक स्पष्ट मंत्रों का अभाव बताकर यह अम उत्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं, कि यदि वेद शास्त्रों में इनका समर्थन नहीं है तो विरोध भी नहीं है । किन्तु लोग यह भूल जाते हैं कि किसी वस्तु का स्पष्ट निषेध, उसके प्रचार के पीछे उसके दोष देख कर ही सम्भव है । जब जो वस्तु प्रचलित ही नहीं थी, तब उसका निषेध कैसा ? जैसा कि हम सिद्ध कर चुके हैं, मूर्तिपूजा और अवतारवाद का जन्मकाल वैदिक काल से बहुत पीछे का है । अतएव यदि वैदिक साहित्य में उनका स्पष्ट निषेध अथवा विशेष खडन नहीं है, तो इसमें न कोई आश्चर्य है और न कोई दोष है ।

## मूर्तिपूजा और बहुदेवतावाद

मूर्तिपूजा का एक अन्य आधार बहुदेवतावाद की कल्पना भी है। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, वेदों में ईश्वर के अनेक गुणवाची नामों का उल्लेख है। लोगों ने भूल से उनमें पृथक्-पृथक् देवों की कल्पना कर ली और उनकी मूर्तियाँ बना कर पूजी जाने लगी।

भारतवर्ष के धार्मिक साहित्य में 'देव' शब्द को न समझने से अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गई हैं। 'देव' शब्द 'दिवु' धातु से बना है जिसके अनेक अर्थ हैं—क्रीडा, व्यवहार, द्युति, मोद, स्वप्न, विजिगीषा, स्तुति, मद, कान्ति तथा गति। इस प्रकार कोई भी पदार्थ जो उपर्युक्त अर्थवाची है 'देव' है। वैदिक सस्कृत में एक-एक शब्द अनेकार्थवाची था किन्तु दीर्घ कालान्तर में वह रुढ़ि और एकार्थवाची बन गया। 'देव' शब्द भी उन्हीं में से एक है। देव के उपरिलिखित अर्थों में एक अर्थ 'द्युति'—'प्रकाश युक्त' भी है, अतः जहाँ इसका अर्थ 'ईश्वर' तथा 'विद्वान्' वाची हुआ वहाँ 'सूर्य', 'चन्द्र' आदि प्रकाशयुक्त जड़ पदार्थ भी होता है। प्राचीन वैदिक निरुक्तकार यास्काचार्य ने 'देव' शब्द के निम्नार्थ किये हैं—

देवो दानाद् वा, दीपनाद् वा, द्योतनाद् वा, द्युस्थानोभयतीति वा। निरुक्त अ० ७, ख० १५॥

‘जो देवता है वा प्रकाश करता है वा प्रकट करता है अथवा जो प्रकाश का पुञ्ज है, वह देव है’ । इम प्रकार दानदाता देव है । सत्युपदेष्टा आचार्य विद्वान्, माता-पिता देव है । सूर्य, चन्द्रादि प्रकाशयुक्त लोक भी देव है । स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका, ‘वेद विषय विचार’ के अन्तर्गत ‘देव’ शब्द के अनेक अर्थ लिखे हैं:—

अत्र, परिगणन गायत्र्यादिच्छन्दोन्विता मन्त्रा ईश्वराज्ञ यज्ञः यज्ञाङ्गं प्रजापति परमेश्वर नराः काम विद्वान्, अतिथि. माता-पिता आचार्यश्चेति कर्मकाण्डादीन्प्रत्येता देवता सन्ति ।

गायत्र्यादि छन्दो से युक्त मन्त्र, ईश्वराज्ञा, यज्ञ और उनके अङ्ग, राजा, परमेश्वर, मनुष्य, काम, विद्वान्, अतिथि, माता पिता और आचार्य ।

एक स्थान पर यजुर्वेद में इन्द्रियो को देव कहा है:—

नैनद् देवा आप्नुवन् । यजुर्वेद ४०।४।

इन्द्रियाँ उस परमेश्वर तक नहीं पहुँच सकती ।

अतः जब देव शब्द के अनेक अर्थ हैं, तो वेदों में इसे बहु-वचन में प्रयुक्त हुआ देख कर यह कहना कि वेदों से ‘बहुदेवता-वाद’ सिद्ध होता है, सर्वथा अनुचित है ।

वेदों में सूर्य, चन्द्र, विजली, पृथ्वी आदि जड़ पदार्थों के लिये देव शब्द प्रयुक्त हुआ देख कर, लोगो ने यह धारणा बनाली कि वेदों में इनकी पूजा का विधान है । किन्तु वास्तविकता यह है कि इन स्थलों पर उनकी पूजा का सकेत मात्र भी नहीं है । जब देव के अर्थ केवल ईश्वर अथवा किसी दिव्य पदार्थ के अधिष्ठातृ-देव यथा—मेघ का इन्द्र, जल का वरुण, सूर्यलोक का सूर्यदेव, इत्यादि निश्चित रूप से समझे जाने लगे;

तो लोगों को यह भ्रम उत्पन्न हो गया कि वेदों में वृद्धदेवतावाद और उन देवों की पूजा का विधान है। आगे चलकर इसी कल्पना के आधार पर उन-उन देवों की मूर्तियाँ बना ली गईं और उनकी पूजा प्रारम्भ हो गई। किन्तु जैसे-जैसे मूर्तिपूजा आय का एक अच्छा साधन सिद्ध होने लगी, वैसे-वैसे प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु का एक पृथक् अधिष्ठातृ-देव कल्पित कर लिया गया और उस देव की मूर्ति निर्माण करके उसकी पूजा प्रचलित कर दी गई। जन साधारण हिन्दुओं की आज भी यह धारणा है कि नदी, पहाड़, अग्नि, वायु आदि समस्त प्राकृतिक जड़ पदार्थों के पृथक्-पृथक् अदृश्य अधिष्ठातृ देव हैं। पुराणों में इनकी पूजा का स्थान स्थान पर वर्णन है। किन्तु यह अधिष्ठातृ देव क्या हैं कैसे हैं और कहाँ हैं ? इसकी कभी कोई जानने की चिन्ता नहीं करता। क्या आत्मा की भाँति उनकी कोई चेतन सत्ता है ? निश्चय ही उनकी कोई चेतन सत्ता होनी चाहिए, क्योंकि जड़ वे हो नहीं सकते। फिर क्या वह ईश्वर की भाँति सर्वज्ञाता, सर्वशक्तिमान् और कर्मफल दाता है ? यदि उन्हें सर्वज्ञाता, सर्वशक्तिमान् और कर्मफल दाता मान लिया जाय तो फिर इनमें और ईश्वर में क्या भेद है ? अथवा वे अजर अमर हैं ? इत्यादि प्रश्नों का कोई निश्चयात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता।

पुराणों में साधारण मनुष्यों की भाँति देवों का पारस्परिक युद्ध, ईर्ष्या, द्वेष पूर्ण अनेक कथाओं का वर्णन है, जो वृद्धदेवता-वाद का स्वाभाविक परिणाम है। कुछ लोगों की धारणा है कि जिस प्रकार राज्य प्रबन्ध के लिये अनेक कर्मचारियों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार सृष्टि को नियम में रखने के लिये अनेक देवताओं की आवश्यकता है। किन्तु यह ग़लत

ईश्वर की सर्वव्यापकता तथा सर्वशक्तिमत्ता को न समझने से ही उत्पन्न होता है। राजा एक देशीय होने से सर्वज्ञाता नहीं है और अल्प शक्ति रखने के कारण प्रजा पर अकेला शासन भी नहीं कर सकता, अतः उसे अपनी सहायता के लिये अनेक राज्य-कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। किन्तु ईश्वर सर्वव्यापक होने से सब कुछ जानता है और सर्वशक्तिमान होने से उसे अपने कार्य के लिये किसी अन्य शक्ति की सहायता की आवश्यकता नहीं।

अब प्रश्न यह है कि जब वेदों में इन देवों की पूजा का कहीं विधान नहीं है तो फिर यह भ्रम कैसे उत्पन्न हो गया? जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं, वैदिक भाषा में एक शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता था, किन्तु आगे चलकर उनके अर्थ सीमित हो गये और वेद मंत्रों के कुछ के कुछ अर्थ समझे जाने लगे। इसी प्रकार ईश्वर के भी अनेक गुण होने से उसके अनेक गुणवाची नामों का वेदों में उल्लेख है। ऋग्वेद में कहा भी है :—

— इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान् ।

— एक सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः ।

ऋग०।३।१६४ ४६।।

एक सद्वस्तु परमात्मा को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम तथा मातरिश्वा आदि नाम देते हैं। अर्थात् इन नामों से उस एक ही वस्तु का वर्णन होता है।

यजुर्वेद में ईश्वर को अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा तथा शुक्र आदि कहा गया है :—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजपतिः ॥ य०३२।१

अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म. आपः, प्रजापति इन शब्दों द्वारा परमात्मशक्ति का बोध होता है। अर्थात् प्रकाश स्वरूप होने से उस परमात्मा का नाम अग्नि, कभी विनाश न होने से आदित्य, जगत् का धारण तथा जीवन होने से वायु, आनन्द स्वरूप होने से चन्द्रमा, अत्यन्त पवित्र होने से शुक्र, सबसे बड़ा होने से ब्रह्म तथा प्रजा का पालन करने से प्रजापति है। इस प्रकार स्वयं वेदों से अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं, जिनमें ईश्वर के लिये अनेक ऐसे नाम प्रयुक्त हुए हैं, जिनका जीवधारी मनुष्य, एवं प्राकृतिक पदार्थों के लिये भी प्रयोग होता है। किन्तु दुर्भाग्यवश हमने उनको अनेक देवता समझ लिया और ईश्वर के स्थान में उनकी पूजा प्रारम्भ कर दी। आज भी हम ईश्वर को माता, पिता, बन्धु, सखा आदि अनेक नामों से सम्बोधन करके उसकी प्रार्थना करते हैं किन्तु उमसे यह भ्रम किसी को नहीं होता कि हम अपने माता, पिता, बन्धु आदि की स्तुति अथवा प्रार्थना कर रहे हैं। इसी प्रकार वेदों में जहाँ-जहाँ सूर्य, चन्द्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि, वायु आदि की स्तुति, प्रार्थना का प्रसङ्ग है, वहाँ उससे तात्पर्य परमात्मा की स्तुति प्रार्थना ही समझना चाहिए, जड जगत् की वस्तु नहीं।

वेदों में केवल एकेश्वरवाद का ही प्रतिपादन है, इसे आज योरूप के विद्वान् भी स्वीकार करने पर विवश हुए हैं और सायणाचार्य आदि वेद भाष्यकारों की शैली तक का, जिसके आधार पर-बहुत से पश्चिमी विद्वान् वेदों में बहुदेवतावाद की प्रतिच्छाया देखते हैं, खडन करते हैं।

मिस्टर राथ ने अपने प्रसिद्ध कोष के पहिले भाग के ४-६ पृष्ठों से जो लिखा है उसका सार हम नीचे देते हैं —

वह लिखते हैं, वेदार्थ का उद्देश्य सायणादि कृत अर्थों का ग्रहण करना नहीं है अपितु उन अर्थों का जो वैदिक ऋषियों के मन में थे, दूर निकालना है। सायणादि अपने समय के विचारों के प्रतिबिम्ब वेदों में देखते हैं—सत्य वेदार्थ प्रायः सभी विद्वान् चिरकाल से भूल गये थे, अतः अपने-अपने समय के धार्मिक विचारों का समावेश वेदार्थ में करने आये हैं। इसी प्रकार मि० व्हेटनी (Whetenay), जे० म्यूर (J Muir) तथा वेबर (Weber) ने अपने ग्रन्थों में राथ के उपर्युक्त विचारों का समर्थन किया है।

भारतवर्ष के धार्मिक जगत् में युगान्तर उपस्थित करने वाले बीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध सुधारक तथा वेद भाष्यकार स्वामी दयानन्द ने तो अपने वेद भाष्य तथा ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में प्रबल प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है कि वेदों में केवल एक ईश्वर पूजा का ही प्रतिपादन है और बहुदेवता-वाद का सर्वथा निषेध है। इसी प्रकार वर्तमान समय के प्रसिद्ध विचारक श्रीयुत् अरविद धोष ने स्वा० दयानन्द और सायणाचार्य की भाष्यशैली की तुलनात्मक समालोचना करते हुए स्वा० दयानन्द का समर्थन किया है और लिखा है:—

“यहाँ स्वा० दयानन्द का विचार बिल्कुल स्पष्ट और अखण्डनीय है कि वेद एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करते हैं जिसके प्रमाण “एक सद्विप्राबहुधा वदन्ति” इत्यादि सहस्रो वेद मंत्र हैं, जो सारे वेद में स्थान-स्थान पर पाये जाते हैं। इत्यादि-इत्यादि।

परमात्मा एक ही है, इस विषय की पुष्टि में कुछ स्पष्ट वेद मंत्र नीचे उद्धृत किये जाते हैं:—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ॥१६॥

न पचमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ॥१७॥



नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ।१८॥

ईश्वर न दूसरा है न तीसरा है न ही चौथा कहलाता है ।  
१६। न पाँचवा है, न छटा है, न सातवाँ ही कहलाता है ।१७॥  
न आठवाँ है न नवाँ है न ही दसवाँ कहलाता है ।१८॥

तमिद निगृतं सह. स एप् एक एकवृदेक एव । अथर्व० १३।४  
वह सर्व शक्ति है, वह एक है, एकवृत और एक है ।



## मूर्तिपूजा और रामायणकाल

रामायणकाल का ठीक-ठीक समय निश्चय करने में तो इतिहासिकों में मतभेद हो सकता है, किन्तु यह सर्वमान्य है कि रामायण में वर्णित ऐतिहासिक घटना महाभारत से दीर्घकाल पूर्व घटी। यह वह समय था जब वैदिक मर्यादा तथा आर्य-संस्कृति का लोप नहीं हुआ था। किन्तु इतना स्पष्ट है कि मांसाहार, सुरापान आदि आमुरी प्रवृत्तियों का सूत्रपात हो गया था। वैदिक कर्म काण्ड में प्रवृत्त ऋषि, मुनियों के यज्ञों को मासादि अपवित्र वस्तुओं से विध्वंस करने की दुष्ट चेष्टा प्रारम्भ हो गई थी। यदि देखा जाये तो इन्हीं वैदिक यज्ञों एवं संस्कृति की रक्षार्थ उस समय जो कुछ प्रयत्न किया गया, वही रामायण की कथा का मुख्य कथानक है।

इस समय रामायण सम्बन्धी जितनी भी सामग्री अनेक ग्रन्थों के रूप में उपलब्ध है, उस सबका आधार, ऋषि वाल्मीकि कृत रामायण ही है। किन्तु आज जितनी भी वाल्मीकि रामायण मिलती है उनके काण्ड, सर्ग और श्लोक-संख्या-विभिन्नता तथा अनेक अप्रासंगिक एवं प्रकृति नियम विरुद्ध स्थलों को देखते हुए यह सब ही मानते हैं कि अन्य ग्रन्थों की भांति इस ग्रन्थ में भी प्रक्षिप्त सामग्री की न्यूनता नहीं है। इस समय वाल्मीकि रामायण की दो प्रकार की प्रतियां मिलती हैं, एक गौड़ वा बंग देश की और दूसरी बम्बई की। बम्बई की प्रति में बंग

देश की प्रति से एक काण्ड (उत्तरकाण्ड) ६३ सर्ग तथा ४७३५ श्लोक अधिक है। इटली भाषा में संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान गीरीसियो (Gorreseo) कृत रामायण का जो अनुवाद मिलता है, उसमें भी उत्तरकाण्ड रहित केवल छः काण्ड हैं। इसी प्रकार चम्पू रामायण जो महाराज भोज के समय बनी थी और जिसमें वाल्मीकि रामायण का सार लिखा है युद्धकाण्ड तक ही है। युद्धकाण्ड समाप्त पर स्वयं वाल्मीकीय -रामायण में रामायण का माहात्म्य वर्णन किया गया है जो कि किसी ग्रन्थ के आदि या अन्त में ही लिखा जाता है, सिद्ध करता है कि उत्तरकाण्ड का समावेश पीछे से किया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त स्पष्ट प्रक्षिप्त भागों के होते हुये भी समस्त रामायण में सर्वत्र केवल वैदिक यज्ञों का वर्णन है, मूर्तिपूजा का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। मनुस्मृति की भाँति वाल्मीकि रामायण में भी माँसाहार एवं यज्ञ में पशुबलि दी जाने की पुष्टि तो कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों द्वारा अवश्य की गई है, जिसमें वाममार्ग का स्पष्ट हाथ दृष्टिगोचर होता है, किन्तु मूर्तिपूजा विषयक श्लोकों का सर्वथा अभाव, यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि जिस समय यह प्रक्षिप्त भाग मिलाये गये, उस समय भी इस देश में मूर्तिपूजा जारी नहीं हुई थी। अतः हमारी यह धारणा कि मूर्तिपूजा का प्रचार इस देश में बौद्ध काल से पूर्व नहीं था, निराधार नहीं है।

वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकाण्ड से निम्न श्लोक मूर्तिपूजा के पक्ष में प्रायः उपस्थित किया जाता है —

यत्र यत्र स्मयात्तिस्म रावणो राक्षेध्वरः ।

जाम्बूनदमयं लिङ्गं तत्र तत्रस्म नीयते ॥

रावण जहाँ-जहाँ जाता था, अपने साथ नुवर्णमय लिङ्ग ले

जाता था। इसी प्रकार एक दूसरे स्थान पर लिखा है कि 'वालु-  
कावेदिमध्ये तु तल्लिग स्थाप्य रावण' अर्थात् वालू की वेदि पर  
रावण ने लिंग की स्थापना की इत्यादि। प्रथम तो यह श्लोक  
उत्तरकाण्ड के हैं, जिसे हम अनेक प्रमाणों द्वारा प्रक्षिप्त भाग  
सिद्ध कर चुके हैं। किन्तु इन्हें यदि ठीक मान भी लिया जाए तो  
यह कृत्य राक्षसी था। यह भी ठीक ही है कि शिवलिंग पूजा का  
प्रचार वाममार्ग द्वारा हुआ और रावण भी वाममार्गी ही था।  
अतः इससे हमारे पक्ष की हानि नहीं होती।

उस समय आर्य लोग प्रातः सायं संध्योपासना, अग्निहोत्र  
करते थे, इसका वाल्मीकि रामायण में बहुलता से वर्णन है।  
विश्वामित्र ने राम, लक्ष्मण से कहा कि—

'स्नातोश्च कृतजप्याश्च हृतहव्या नरोत्तम' (१६ सर्ग २३  
वालकाण्ड) हम लोग स्नान करेगे और जप करेगे हवन करेगे।

तथैव गच्छतस्तस्य व्यापाद्रजनी शिवा ।

उपोस्य तु शिवां संव्यां विपयानत्यगाहृत । २ ।

सर्ग ४६, अयोध्याकाण्ड

उसी प्रकार चलते हुये रामचन्द्र को वह कल्याणमयी रात  
बीत गई। प्रातः काल की सध्या करके वे आगे दूसरे देश  
में गए।

ततश्चीरोत् रासङ्गः संध्यामन्वास्य पश्चिमाम् ।

जलमेवाददे भोज्यं लक्ष्मणनाहृत स्वयम् । ४८ ।

सर्ग ५०, अयो० काण्ड

तदनन्तर रामचन्द्र ने चीर ओढ़ कर सायकाल की सध्या  
की और लक्ष्मण का लाया हुआ जल ही ग्रहण किया।

राम ने लक्ष्मण से कहा—

प्रयागमभितः पश्य सीमित्रे धूममुत्तमम् ।

अग्नेर्भगवत् - केतु मन्वे सहितो मुनि । ५ ॥

सर्ग ५४, अयो० काण्ड

प्रयाग के पास भगवान् अग्नि की ध्वजा, सुगन्ध घूम देखो, इससे प्रतीत होता है कि मुनि यही हैं, कही बाहर नहीं गए।

इसी प्रकार भरत, शत्रुघ्न के भी हवन और जप करने का उल्लेख है —

रजन्या सुप्रभाताया भ्रातस्ते सुहृद् ता. ।

मन्दाकिन्या हुत जप्य कृत्वा राममुपागमत् । २ ।

सर्ग १०५, अयो० काण्ड

रात्रि के बीतने पर वे भाई मित्रों के साथ मन्दाकिनी तीर पर स्नान, हवन और जप करके रामचन्द्र के पास आये।

इसी भाति ऋषि, मुनियों द्वारा अग्निहोत्र करने का भी वर्णन है:—

वास चक्रुर्मुनिगणाः शोणाकूले समाहिता ।

तेऽस्तं गते दिनकरे स्नात्वा हुतहुताशना । २० ॥

सर्ग ३१, वालकाण्ड

सूर्य के अस्त हो जाने पर स्नान करके उन मुनियों ने अग्निहोत्र किया। सीता महारानी भी सध्या कन्ती थी—हनुमान जी सीता की खोज करते हुए अशोक वाटिका के सरोवर को देखकर कहते हैं.—

सन्ध्याकालमना श्यामा ध्रुवमेप्यति जानकी ।

नदी चेमा शुभजला नन्ध्यायै वरवर्णिनी । ५० ।

यदि जीवति सा देवी तारावपति मानना ।

आगमिष्यति साऽवश्यमिमांशीतजला नदीम् । ५१ ॥

सर्ग १४, मुन्दरकाण्ड

सध्या काल में मनवाली देवी सीता सध्या करने के लिये इस शुभ जल वाली नदी पर आवेगी । यदि वह चन्द्रमुखी देवी जीवित है तो इस शीतल जल वाले सुरम्य सरोवर पर अवश्य आवेगी ।

उपर्युक्त समस्त उद्धरण इतने स्पष्ट है कि किसी टीका-टिप्पणी की अपेक्षा नहीं रखते । इनसे सिद्ध है कि रामायण-काल वेदप्रतिपादित यज्ञादि का काल था और उसमें कहीं भी मूर्तिपूजा के लिये कोई स्थान नहीं ।

कैसे आश्चर्य की बात है कि भगवान राम स्वयं सधयोपासना और अग्निहोत्र करें किन्तु उनके भक्त उनकी मूर्तिपूजा करके अपने आपको कृतकृत्य समझे । भगवान बुद्ध के भक्तों ने भी उनके आदेशों पर न चल कर उनकी मूर्ति की पूजा प्रारम्भ कर दी थी । परन्तु बौद्ध नास्तिक थे, उनके समक्ष उनका कोई उपास्य देव नहीं था, अतः उन्होंने यदि ऐसा किया तो अस्वाभाविक नहीं है । दुःख तो राम के भक्तों पर है, जिन्होंने नास्तिक होते हुये भी राम के आदेशों को न अपना कर उनके स्थान पर उनकी मूर्ति की पूजा प्रचलित कर दी ।

तुलसीकृत रामायण में कुछ स्थलों पर मूर्तिपूजा का वर्णन, श्री तुलसीदास जी की अपनी निजी कल्पना है । वह स्वयं वैष्णव थे, अतः यह स्थल केवल उनके अपने विचारों के ही प्रतिबिम्ब हैं, उनका आधार वाल्मीकिकृत रामायण नहीं । न सीता जी ने स्वयं वर के समय देवी की जाकर पूजा की और न राम ने सेतु-बन्ध के अवसर पर रामेश्वर में शिवलिंग की स्थापना अथवा पूजा की । वाल्मीकीय रामायण में इतना वर्णन है कि लका से विमान द्वारा लौटते समय राम ने सीता से सकेत करके कहा कि यहाँ महादेव की कृपा से हमने समुद्र का पुल बाधा था:—

एतन्तु दृश्यते तीर्थं सागरम्न महात्मन ।

सेतुबन्ध इतित्यातं त्रैलोक्यपरिपूजितम् ॥२०॥

एतत्पवित्रं परमं महापातकनाशनम् ।

अत्र पूर्वं महादेवः प्रमादमकरोद्विभुः ॥ २१ ॥

(युद्धकाण्ड सर्ग १२५)

यह बड़े समुद्र का तट दिग्वाई पड रहा है, इसे सेतुबन्ध कहते हैं, यह तीन लोक मे प्रसिद्ध है। यह परम पवित्र स्थान है, यहाँ पापी महापातको का प्रायश्चित्त करते हैं। यहाँ ही सर्वव्यापक देवो मे बडे, महादेव परमात्मा ने हम पर कृपा की। उपरोक्त श्लोको में कही भी शिवालिंग स्थापना तथा उसके पूजन की वान नही है। सम्भवतः महादेव शब्द, जिसके अर्थ देवो मे महान्-परमात्मा है, को देखकर तुलसीदास जी ने शिवालिंग स्थापना एव उसकी पूजा की कल्पना करली।

जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद का आधार आधेय सम्बन्ध है, किन्तु वाल्मीकीय रामायण से राम का ईश्वरावतार होना भी सर्वथा असिद्ध है। समस्त रामायण मे राम को कही भी ईश्वरावतार नही लिखा। हा कही-कही, विष्णु के समान अथवा विष्णु का अ ग अवयव लिखा है। किन्तु यदि हम विचारपूर्वक इन स्थलो को देखे तो यह पीछे से मिनाये हुए प्रतीत होते है। अन्यथा स्वयं भगवान राम ने अनेक स्थानो पर अपने आपको मनुष्य ही उद्घोषित किया है। रामचन्द्र सीता से कहने हैं—

या त्व विरहिता नीता बलचित्तेन रक्षणा ।

देव नन्मादितो दोषो नानुपेण मया जितः ॥५॥

जो तू चलायमान चित्त वाले राक्षस रावण ने हर ली गई थी, यह देवकृत दोष था, जो मुझ मनुष्य ने जीत लिया।

यत्कर्त्तव्यं मनुष्येण धर्षणा प्रतिमाजिता ।

तत्कृतं रावणं हत्वा मयेदं मानकाक्षिणा ॥१३॥

(युद्ध कां० सर्ग ११५)

शत्रु द्वारा किये गये अपमान को मिटाने के लिये मनुष्य को जो कुछ करना चाहिये वह मैने मान चाहते हुये रावण को मार कर किया ।

आत्मानं मानुषं मन्ये राम दशरथात्मजम् ॥१३॥

(युद्ध कां० सर्ग ११७)

मैं अपने को मनुष्य समझता हूँ, मैं दशरथ-पुत्र राम हूँ ।

इसी प्रकार ऋषि नारद ने वाल्मीकी मुनि से राम के गुण वर्णन करते हुये कहा कि राम पराक्रम में विष्णु के समान है, यह नही कहा कि विष्णु है अथवा विष्णु अवतार है:—

आर्य्यः सर्वसमश्चैव सदेक प्रियदर्शनः ।

स च सर्वगुणोपेतः कौशल्यानन्दवर्धनः ॥ १६ ॥

समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव ।

विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत् प्रियदर्शनः ॥१७॥

बालकाण्ड-स० १

वह आर्य्य हैं, वह सबको समान दृष्टि से देखने वाले हैं । वह सब गुणों से युक्त कौशल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले हैं, गम्भीरता में समुद्र के समान हैं, धैर्य में हिमालय की तरह, पराक्रम में विष्णु के समान और प्रिय दर्शन में चन्द्रमा के तुल्य हैं ।

सीता के वियोग पर राम ने जो विलाप किया वह भी उनको ईश्वरावतार-सिद्ध न करके मनुष्य ही सिद्ध करता है । इस विलाप का वाल्मीकीय रामायण में बड़ा करुणाजनक वर्णन है



विन्तारभय से समस्त लोक न देकर कुछ छोड़े नीचे उद्धृत किये जाते हैं:—

एव नद्विनपन् राम. नीताहरणकपितः ।

दीन शोकममाविष्टो मुहूर्तं विह्वलोऽभवत् ॥२६॥

गन्तव्यो ह्यवमन्नाज्ञो गतवृद्धिविचेष्टित ।

निपनाशानुरो दीनो नि.ज्वस्याशीतमायतम् ॥३०॥

श्रा० का० सर्ग ५६

इस प्रकार विलाप करते श्रीर सीता हरण से दुःखी हुए दीन, शोक युक्त राम छोड़ी देर के लिये व्याकुल हो गये । दुःख से कुछ अर्गों वाले नि संज्ञ तथा चेष्टा रहित राम आतुर हो बड़ा उल्लास लेकर बैठ गये ।

न राजपुत्र प्रियया विहीन कामेन शोकेन चपीड्यमान ।

विपादयन् भ्रातरमांस्पो भूयो विपाद प्रविवेश तीव्रम् ॥१॥

न महिषोऽपुण्ड्रकर्मकारी मन्ये द्वितीयोऽस्ति वसुंधरायाम् ।

शोकेन शोकोहि परम्पराया मामेति भिन्दन्हृदय मनश्च ॥३॥

पूर्व मया नूनमभोप्सितानि पापानि कर्माण्यसकृत्कृतानि ।

तत्रायमद्यापत्ततो विपाको दुःक्षेन दुःखं यदह विशामि ॥४॥

राजप्रणाश. स्वजनैर्वियोग पितुर्विनाशो जननी वियोग ।

नर्वाणि मे लक्ष्मण शोकवेगमापूरयन्ति प्रविचितितानि ॥५॥

प्रिय विहीन तथा काम व मोह से पीडित दुःखित रूप वाले राजपुत्र राम अपने भाई (लक्ष्मण) को दुःखी करते हुए पुनः तीव्र दुःख में निमग्न हो गये । मैं यह जानता हू कि पृथ्वी पर मेरे समान अशुभ कर्म करने वाला दूसरा नहीं है । हृदय तथा मन को वीधता हुआ शोक पर शोक परम्परा से मुझे प्राप्त होता है ।

निश्चय ही मैंने अनेक बार मन चाहे पाप किये हैं। उन्हीं का फल यह आज मुझे प्राप्त हुआ है, जिससे मैं एक दुःख से दूसरे दुःख को प्राप्त होता हूँ। हे लक्ष्मण ! राज्य का नाश, घर वालों का छूटना, पिता का मरण, माता का वियोग ये सब मेरे शोक को बढ़ाते हैं।

इन स्थल पर आगे राम ने मनुष्य की भाँति अनभिज्ञता प्रकट करते हुए कहा कि सम्भवतः राक्षसों ने सीता को मार कर खा लिया होगा। जटायु को पडा देखकर राम कहने लगे कि इसने सीता को खा लिया है, इसमें सदेह नहीं है। अब यह सीता को खाकर सुख पूर्वक पड़ा है। मैं इसे वाणों से मारूँगा इत्यादि। वाल्मीकीय रामायण का यह समस्त स्थल इस बात को प्रबलरूप से सिद्ध करता है कि राम, मनुष्य थे। सीता-वियोग से व्यथित होना, अपने समस्त दुःखों का कारण अपने कृतपापों को बताना, एवं यह न जानना कि सीता को कौन ले गया और वह अब कहाँ है, जीवित है या मृत, ये सब ऐसे प्रमाण हैं, जो राम को ईश्वरावतार असिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं। यदि ऋषि वाल्मीकि रचित रामायण काल में राम को ईश्वर का अवतार माना गया होता तो रामायण में राम का इस प्रकार वर्णन न होता। अतः उपर्युक्त उद्धरणों से हमारे इस विचार की पूर्णरूप से पुष्टि होती है कि राम को उस काल में तथा पीछे बहुत समय तक कोई भी ईश्वरावतार नहीं मानता था।

इस प्रकार रामायण काल में न केवल मूर्तिपूजा ही अप्रचलित थी अपितु राम को ईश्वरावतार मानने की भावना भी प्रसारित नहीं हुई थी। यह समस्त कल्पनाएं वैष्णवादि सम्प्रदायों के प्रचार के पश्चात् ही, पौराणिककाल में, इस देश में फैली हैं। एक ओर इस कल्पना ने ईश्वर को खींचकर

अल्पज्ञ जीव की कोटि में रख दिया दूसरी ओर राम को ईश्वर बताकर उनके आदर्शों को जन साधारण के अनुकरण की वस्तु न छोड़ा। वे समझते लगे कि राम तो ईश्वर थे भला हम उनका क्या अनुकरण कर सकते हैं। इन वादों से इस देश को जो हानि पहुँची है उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।



## मूर्तिपूजा तथा महाभारत काल

महाभारत का समय आज से लगभग पाँच हजार वर्ष से कुछ ऊपर अङ्कित किया जाता है। वह काल रामायणकाल से बहुत पीछे का है। रामायणकाल में श्रार्य लोग वैदिक मर्यादा का पालन करते थे किन्तु महाभारत के समय में उनकी खुले रूप में अवहेलना प्रारम्भ हो चुकी थी। तप और त्याग का स्थान भोग विलास लेते जा रहे थे। द्यूतादि दुष्कृत्य पाप नहीं समझे जाते थे। धर्मराज कहे जाने वाले युधिष्ठिर राजसभा में खुले रूप से जुआ खेलते थे। इस प्रकार वह जाति जो किसी समय संसार को धर्म का पाठ पढ़ाती थी बड़ी शीघ्रता से पतन की ओर अग्रसर हो चली थी।

रामायण की भांति महाभारत में भी प्रक्षिप्त भाग की कमी नहीं है। यदि यह कहा जाय कि वर्तमान महाभारत ग्रन्थ, उस ग्रन्थ से जिसकी रचना महर्षि वेदव्यास कृष्णद्वैपायन ने की थी, कई गुना बढ़ गया है, तो अत्युक्ति न होगी।

महाभारत की इस समय श्लोक संख्या ९५४२६ है। परन्तु स्वयं महाभारत की साक्षी से सिद्ध होता है कि व्यास जी ने केवल चौबीस हजार (२४०००) श्लोकों की रचना की है—

चतुर्विंशतिसाहस्री चक्रे भारतसंहिताम् ।

उपाख्यानेर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः ॥ आदि १।१०१॥

(महर्षि व्यास ने) चौबीस सहस्र (श्लोकयुक्त) भाग्य संहिता बनाई थी। उपाख्यानों के बिना इतने को ज्ञानी लोग 'भारत' कहते हैं। इसके विपरीत एक दूसरा श्लोक देकर कुछ लोग श्लोक संख्या केवल २८०० सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं—

अष्टौ श्लोकमहलाणि अष्टौ श्लोकशतानि च ।

अह वेचि शुको वेत्ति नञ्जयो वेत्ति वा न वा ॥आदि १।८१॥

आठ सहस्र आठ सौ श्लोको को मैं जानता हूँ, शुक जानता है सख्य न जाने जानता है या नहीं जानता ।

यह श्लोक संख्या इतनी किस प्रकार बढ़ गई, इसका भी स्वयं महाभारत ग्रन्थ से ही बहुत कुछ पता लग जाता है। सून लोमहर्षण के पुत्र सूत उग्रश्रवा कहते हैं कि, "एकशतसहस्रन्तु मयोक्ता वै निबोधत ।" ( आदि १।१०७ ) "एक लाख श्लोक मेरा बनाया हुआ समझो ।" इससे यह सिद्ध होता है कि किसी समय यह श्लोक संख्या एक लाख से भी कहीं अधिक पहुँच चुकी थी ।

स्वामी दयानन्द ने इस सम्बन्ध में एक अन्य साक्षी अपने सत्यार्थप्रकाश में राजा भोज लिखित संजीवनी इतिहास के आधार पर दी है, जिसमें लिखा बताया जाता है कि "व्यास जी ने ४४४० और उनके शिष्यों ने ५६०० अर्थात् सब १०००० के प्रमाण भारत बनाया था। वह महाराज विक्रमादित्य के समय में बीस सहस्र, महाराज भोज कहते हैं, मेरे पिता के समय में २५ सहस्र, अब मेरी आधी उम्र में तीस सहस्र श्लोकयुक्त महाभारत की पुस्तक मिलती है", इत्यादि ।

एक अन्य प्रमाण इस विषय में गरुड़पुराण का भी उपलब्ध है जिससे भारत की श्लोक संख्या केवल छह हजार प्रमाणित होती है :—

दैत्याः सर्वे विप्रकुलेषु भूत्वा कृतेयुगे भारते पट्सहस्रयाम् ।

निष्कास्य काञ्चिन्नवनिर्मितानां निवेशन तत्र कुर्वन्ति नित्यम् ॥

कृतयुग मे सारे दैत्य ब्राह्मण कुलों मे उत्पन्न छः हजार श्लोक वाले भारत ग्रन्थ में कुछ अंश निकाल कर नये बने अंशों का निवेशप्रक्षेप नित्य करते रहते हैं। ('कृतेयुगे' के स्थान पर 'कलीयुगे' पाठ, अर्थ की दृष्टि संगत होगा—लेखक)।

उपरोक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि महाभारत जिसका कि सबसे पूर्व नाम 'जय', फिर 'भारत' और अन्त में कदाचित् श्लोक वृद्धि के कारण 'महाभारत' पड़ गया—में इतने क्षेपक हैं कि मूल ग्रन्थ वास्तव में कितना है ? यह निश्चय करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। जो बात महाभारत के सम्बन्ध में सत्य है, ठीक वही बात गीता के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। गीता महाभारत का ही एक भाग है। शंकर स्वामी के भाष्य से पूर्व उसका कोई अन्य भाष्य प्राप्त नहीं होता। जिससे यह प्रमाणित होता है कि उससे पूर्व गीता का महाभारत से पृथक् कोई अस्तित्व एक ग्रन्थ के रूप में नहीं था। श्रीकृष्ण का गीता के रूप में इतना विस्तृत एवं विषयान्तर उपदेश भी ठीक युद्ध के समय न सम्भव है और न युक्तियुक्त। आत्मा के अमरत्व को सिद्ध कर के अर्जुन को युद्ध करने के लिये प्रोत्साहित करना पर्याप्त था, जो गीता के द्वितीय अध्याय से ही सिद्ध हो जाता है। अनेक विद्वानों का यह भी मत है कि समस्त गीता ही महाभारत में पीछे से जोड़ी गई है।

इस विषय में हम अधिक विस्तार में नहीं जाना चाहते, क्योंकि यह हमारा प्रतिपाद्य विषय नहीं है। इससे हमारा

उद्देश्य केवल यह सिद्ध करना है कि इतना अधिक प्रक्षिप्तांश होने पर भी महाभारत एव गीता दोनो मे ही मूर्तिपूजा के समर्थन में एक भी श्लोक नहीं है । हाँ मूर्तिपूजा के खण्डन में एक स्पष्ट श्लोक महाभारत मे मिलता है —

मृच्छिनाघातुदावादिमूर्तावीश्वरबुद्धयः ।

क्लिश्यन्ति तपसा मूढाः परा शान्तिं न याति ते ॥

मूर्ख लोग मिट्टी, पापाण, धातु अथवा काष्ठ की मूर्तियों को ईश्वर समझते हैं । इन लोगों को कभी भी शांति प्राप्ति नहीं हो सकती ।

प्रसिद्ध भारतीय इतिहासकार रायबहादुर चिन्तामणि विनायकवैद्य ने अपने 'भारत मीमासा' ग्रन्थ में इस विषय का सविस्तार विवेचन किया है । उनका भी यही मत है कि महाभारत काल तक इस देश मे मूर्तिपूजा प्रचलित नहीं थी । हम उसे उन ही के शब्दो मे पाठको के अवलोकनार्थ नीचे उद्धृत करते हैं —

(महाभारत मे) स्पष्ट देख पड़ता है कि प्रत्येक आर्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य प्रतिदिन सध्या एवं यज्ञ किया करते थे । कम से कम भारतीय योद्धाओ के वर्णन मे इस बात की कही कमी नहीं है । जिस तरह यह नहीं देख पड़ता कि कही समय पर सध्या करना राम और लक्ष्मण भूल गये हो, उसी तरह समझीते के लिये जाते हुए श्रीकृष्ण का जो वर्णन महाभारत में है, उसमे प्रातः सायं सध्या करने का वर्णन करने में भी कवि ने भूल नहीं की.—

प्रातरुत्थाय कृष्णस्तु कृतवान्सर्वमान्हिकम् ।

ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातो प्रययी नगरं प्रति ॥

(महा० उद्योग पर्व अ० १३)

संध्या में मुख्य भाग था उपस्थान करना जो वैदिक मन्त्रों से किया जाता है। लिखा है कि भारतीय युद्ध के समय समस्त क्षत्रिय प्रातः स्नान करके संध्या से छुट्टी पाकर रण भूमि पर सन्नद्ध होते थे। रात को एक ही दिन युद्ध हुआ और समस्त सैनिकों ने युद्ध भूमि में ही आराम किया। उस समय का वर्णन है कि प्रातः काल होने से-पहले ही युद्ध छिड़ गया, तब सूर्य निकला। उस समय समस्त सैन्य में युद्ध रुक गया और सभी क्षत्रियों ने रणाङ्गण में ही संध्या अर्थात् सूर्य उपस्थान किया। इससे देख पड़ता है कि भारत काल में संध्या और सूर्य के उपस्थान का कितना महात्म्य था। (द्रोण पर्व अ० १८६) “पूर्व में अरुण के द्वारा ताम्रवर्णकित रविमण्डल सोने के चक्र को भाँति दिखाई देने लगा, तब उस संध्या समय में कौरव और पाण्डव दोनों ओर के योद्धा अपने अपने रथ, घोड़े और पालकी आदि सवारियाँ छोड़ छोड़ कर सूर्य की ओर मुंह करके हाथ-जोड़ जप करने लगे” इत्यादि।

“दूसरा कर्तव्य था अग्नि में आहुति देना। यह बात निश्चय पूर्वक सिद्ध है कि प्रत्येक आर्य वर्ण वाला मनुष्य अपने घर में अग्नि स्थापित रखता था। द्रोण पर्व के ८२ वें अध्याय में युधिष्ठिर का जो वर्णन किया है, उसे हम पहले दिखला चुके हैं। युधिष्ठिर प्रातः उठकर स्नान करके संध्या और फिर यज्ञशाला में जाकर अग्नि में आज्याहुति के साथ समिधा, वैदिक मंत्र पढ़ कर यज्ञ करने को नहीं भूले।

समिद्भिश्च पवित्राभिरग्निमाहुतिभिस्तदा।

मंत्रपूताभिरचित्वा निश्चक्राम ततो गृहात् ॥

“इस तरह उद्योग पर्व के ८ वें अध्याय में जब श्रीकृष्ण हस्तिनापुर को जाने के लिये चले, तब का वर्णन है:—



कृत्वा पीर्वान्हिक कृत्यं स्नातः शुचिरलकृत. ।

उपतस्थे विवस्वतं पावकं च जनार्दन ॥

लिखा है कि श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर ने सध्या एव होम करके ब्राह्मणों को दान दिया इत्यादि-इत्यादि ( पृ० ४४७-४४८ ) मूर्तिपूजा पर अपने विचार व्यक्त करते हुए, वह लिखते हैं —

“यह बात निर्विवाद है कि इस वर्णन में कही मूर्तिपूजा का वर्णन नहीं है। यद्यपि श्रीकृष्ण अथवा युधिष्ठिर की आह्निक क्रियाओं का वर्णन विस्तार पूर्वक किया गया है, तथापि उसमें किसी देवता की धातुमयी अथवा पापाणमयी मूर्ति के पूजे जाने का वर्णन नहीं है। उस समय यदि लोगों की आह्निक क्रिया में देवताओं की पूजा का समावेश हुआ रहता, तो उस विषय का उल्लेख इस वर्णन में अवश्य आया होता। इससे निश्चय पूर्वक यह अनुमान होता है कि भारतीय युद्धकाल में और महा-भारत काल पर्यन्त आर्यों के आह्निक धर्म में किसी प्रकार के देवता की पूजा समाविष्ट न हुई थी। किसी घर में देवता की मूर्ति रख कर उसकी पूजा शुरू नहीं हुई थी। भिन्न भिन्न गृह्य सूत्रों में भी देवताओं की पूजा की विधि नहीं बतलाई गई है। इससे यह बात निर्विवाद है कि देवताओं की पूजा की विधि महाभारत काल के पश्चात् अनेक वर्षों में उत्पन्न हुई है।” ( पृ० ४४८-४४९ ) आगे वह पुन लिखते हैं—“परन्तु महा-भारत में मन्दिरों और मन्दिरों स्थित मूर्तियों का वर्णन बहुत मिलता है। यह बात सच है कि मूल वैदिक धर्म में मन्दिरों अथवा मूर्तियों का माहात्म्य न था और न लोगों के नित्य के धार्मिक कृत्य में मूर्ति का समावेश था। महाभारत में सौति ने जो नवीन अध्याय जोड़े हैं, उनमें मूर्तियों और मन्दिरों का वर्णन है” ( पृ० ४४९ ) “यद्यपि मन्दिर और

मूर्तियाँ रही हों यथापि आर्यों के आह्लिक धर्म कृत्य में अब तक देवताओं की पूजा न थी—यह बात महाभारत से और गृह्य सूत्रों से भी निश्चित देख पडती है।” (पृ० ४५० पक्ति १७-२१)

अतः मैं इस विषय पर उपसंहार करते हुए वह लिखते है—

“यहां तक जो विवेचन किया गया है, उसका सारांश यह है कि भारतीय युद्ध काल में भारतीय आर्यों का धर्म केवल वेद विहित था, तो महाभारत काल में इस धर्म में वैदिक देवताओं के सिवा और भी कुछ देवता समाविष्ट हो गये, और वैदिक देवताओं में भी इन्द्र पीछे पड गये और शिव और विष्णु की मूर्ति पूर्णतया स्थापित हो गई। भारतीय युद्ध से लेकर महाभारत काल पर्यन्त जो ढाई तीन हजार वर्ष बीते, उतनी अवधि में भारतीय धर्म का रूपान्तर हो जाना अपरिहार्य था [ यहां ग्रथ-कार का भारतीय युद्ध काल से अभिप्राय उस समय से है जब यह युद्ध हुआ और ‘महाभारत काल’ से भारतीय युद्ध के ढाई तीन हजार वर्ष पश्चात् का समय है जब युद्ध के वर्णन में पीछे से अनेक भाग जोड़े जाकर इस ग्रथ ने वर्तमान महाभारत का रूप धारण कर लिया—लेखक ]

“वैदिक काल में ईश-भक्ति की विशेष क्रिया सध्या और यज्ञ थे। वेदाध्ययन और यजन तीनों वर्णों में जीवित और जागृत थे, परन्तु भारतीय काल में आर्यों और अनार्यों के समाज में एवं धर्म में पूर्णतया मिश्रण होकर जो धर्म स्थिर हुआ, उसमें यद्यपि ब्राह्मणों में वेदाध्ययन और अग्निहोत्र बने रहे थे, तथापि अन्य वर्णों में शिव, विष्णु, स्कन्द और दुर्गा की पूजा प्रचलित होगई। इसके अतिरिक्त इसी समय इन देवताओं की प्रतिमाएँ और इनके लिये मन्दिर बने। अज्ञ लोगों में निरे भूत पिशाचों की ही भक्ति, स्कन्द के साथ अस्तित्व में आगई थी और यह भी

प्रकट है कि बौद्धों के स्तूपों की पूजा का निषेध किया गया है” (पृष्ठ ४५५) विद्वान लेखक के उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि महाभारत के युद्ध के पश्चात् ढाई तीन हजार वर्षों के अन्तर्गत इस देश में मूर्तिपूजा का प्रचार हुआ। बौद्धों के स्तूपों की पूजा का निषेध भी यह सिद्ध करता है कि महाभारत ग्रंथ में यह सम्मिश्रण बौद्धकाल में हुआ है जब कि उनके स्तूपों की पूजा यहाँ प्रचलित हो चुकी थी।

कवियों की अलंकृत रचना की भाँति चित्र अथवा मूर्तिकारों की अलङ्कारयुक्त रचनाएँ कला की दृष्टि से स्तुत्य ही हैं। प्राचीन काल की सरस्वती, लक्ष्मी तथा महाकाली (मृत्यु) की मूर्तियाँ कलाकार की अलंकृत रचनाएँ ही हैं। वर्तमान समय में भारत माता के चित्र की कल्पना भी ऐसी ही वस्तु है। पत्र पत्रिकाओं में नित्य प्रकाशित होने वाले व्यङ्ग्य-चित्र क्या हैं? कलाकार को कल्पना का ही तो परिणाम है। न इसमें कोई दोष है और न हानि। पाश्चात्य देशों में अनेक महापुरुषों की स्थान स्थान पर मूर्तियाँ स्थापित हैं किन्तु इससे उन्हें कोई मूर्तिपूजक नहीं समझता। हानि तो उस समय प्रारम्भ होती है, जब हम उनमें चेतन सत्ता मान कर, चेतन की भाँति उनकी पूजा करने लगते हैं अथवा देवता वा ईश्वर समझकर उसकी स्तुति प्रार्थना द्वारा उसे आत्मोन्नति का साधन मान बैठते हैं। सम्भव है कि कला अथवा वीर पूजा की दृष्टि से उस समय भवनो अथवा मन्दिरों में यह मूर्तियाँ रखी जाती हों, किन्तु इतने मात्र से मूर्तिपूजा सिद्ध नहीं की जा सकती, जब तक कि यह स्पष्ट उल्लेख न हो कि उन मन्दिरों में जाकर लोग उनकी आराधना तथा पूजा प्रार्थना करते थे।

महाभारत में परमात्मा को अशरीरी और निराकार लिखकर

अवतारवाद का भी खण्डन निम्न श्लोको से स्पष्ट है —

मनीषी मनसा विप्रः दृश्यात्मानमात्मनि ॥१५॥

नह्यय चक्षुषा दृश्यो न च सर्वैरपीन्द्रियै ।

मनसा तु प्रदीपेन महानात्मा प्रकागते ॥१६॥

अशब्दस्पर्शरूप तदरसागन्धमव्ययम् ।

अशरीर शरीरेषु निरीक्षेतनिरिन्द्रियम् ॥१७॥

शान्ति पर्व अ० २३६

हे विप्र ! मनीषी अपनी आत्मा में ही आत्मा को देखता है । यह आत्मा न आखों से देखने योग्य है और न सारी इन्द्रियों से । मन रूप प्रदीप से यह देखा जा सकता है । १६ । वह परमात्मा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से रहित, अव्यय है और शरीर में व्याप्त भी है । उस अशरीरी और निरिन्द्रिय को देखे । १७ ।

श्री मद्भगवद् गीता में स्थान-स्थान पर अग्निहोत्र, तप, योग्य स्वाध्याय आदि का ही वर्णन है, मूर्तिपूजा आदि जड उपासना का नहीं:—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतप. क्रिया. ।

प्रवर्तन्ते विधानोक्ता. सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

तदित्यनभिमन्धाय फलं यज्ञतप. क्रियाः ।

दान क्रियाश्चविवधा क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥२५॥

इसलिये ओंकार का उच्चारण करके यज्ञ, दान, तप, यह क्रियायें वैदिक लोगों में निरन्तर विधिपूर्वक होती रहती है । २४ । हे अर्जुन ! मोक्ष की इच्छा वाले, फल की इच्छा न करके यज्ञ, तप की क्रिया और दान की नाना प्रकार की क्रियायें 'तत् सत्' शब्द उच्चारण करके करते हैं । २५ । यज्ञ से अभिप्राय अग्निहोत्र से ही है, यह नीचे के श्लोक से स्पष्ट हो जाता है:—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।

अग्निद्विगुच्यते पार्यं न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

हे पार्थ ! अश्रद्धा से हवन किया हुआ, दान दिया हुआ, तप किया हुआ और जो कुछ कर्म अश्रद्धा से किया जाता है, उसको 'असत्' कहते हैं। वह कर्म न परलोक में और न इस लोक में फलदायक होता है।

पुनः कृष्ण ने यज्ञादि को नित्य तथा सर्वकाल में करने योग्य कर्तव्य कर्म ठहराया है, इनको ही मनुष्य को पवित्र करने वाला बताया है:—

यज्ञ दान तपः कर्म न त्याज्य कार्यमेव तत् ।

यज्ञोदानतपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् । ८॥ अ० १८॥

यज्ञ, दान और तप त्यागने योग्य नहीं है। इन्हें करना ही चाहिये क्योंकि यज्ञ, दान तथा तप यह मनुष्यों को पवित्र करते हैं।

अन्त में ईश्वर प्राप्ति का प्रकार वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण, अर्जुन से कहते हैं —

सिद्धिप्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।

समाभेनैव कीन्तेय निष्ठाज्ञानस्य या परा ॥१०॥

बुद्ध्याविशुद्धयायुक्तो घृत्यात्मान नियम्य च ।

शब्दादीन्विषयास्त्यक्त्वा रागद्वेषी व्युदस्य च ॥११॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी तत्त्वाक्कायमानसः ।

ध्यानयोगपरो नित्य वैराग्य समुपाश्रितः ॥१२॥

हे अर्जुन ! शुद्ध अन्त करण वाला पुरुष जिस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त होता है, उसको सुन और ज्ञान की जो सबसे बड़ी निष्ठा है, उसको भी संक्षेप से सुन ॥१०॥ शुद्ध बुद्धि से युक्त, आत्मिक बल द्वारा मन को रोक शब्द स्पर्शादि विषयो को छोड़ कर और राग द्वेष को त्याग कर पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥११॥

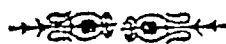
जो एकान्तसेवी, परमित भोजन करने वाला और जिसने शरीर वाणी और मन को जीत लिया है और सदैव ईश्वर विषयक चित्त-वृत्ति-निरोधरूपी समाधि में लगा हुआ वैराग्य को आश्रय किए हुए है, वह ब्रह्म को प्राप्त होता है । ५२।

‘सिद्धि प्राप्तो’ इत्यादि पचासवे श्लोक का भाष्य करते हुए श्री शङ्कराचार्य इस युक्ति का खण्डन करते हुए, जोकि प्रायः मूर्ति पूजा के पक्ष में प्रस्तुत की जाती है कि निराकार परमात्मा को बुद्धि ग्रहण ही नहीं करती अतः मूर्ति की आवश्यकता है, लिखते हैं:—

“केचित्तु पण्डितम्मन्या निराकारत्वादात्मवस्तु नोपैति बुद्धिगतो दुःसाध्यसन्ध्रग् ज्ञाननिष्ठेत्याहुः । सत्यमेवं गुरु सम्प्रदायरहितानाम्, अश्रुत-वेदान्तानाम्, अत्यन्तवहिविषया-सक्त बुद्धीनाम्, सम्यक् प्रमाणेष्ववृत श्रमाणाम्” ॥

कोई पंडिताभिमानी लोग कहते हैं कि परमात्मा के निराकार होने से मनुष्य की बुद्धि उसको ग्रहण नहीं कर सकती; इसलिये परमात्मा का ज्ञान दुःसाध्य है । ठीक है । जो लोग गुरु परम्परा से रहित हैं, जिन्होंने कभी वेदान्त नहीं सुना, बाह्य विषयों में जिनकी बुद्धि लगी हुई है, जिन्होंने न्यायादि प्रमाणों में कुछ भी श्रम नहीं किया वे, ऐसा ही कहा करते हैं ।

इस प्रकार महाभारत एवं गीता रचना काल तक मूर्तिपूजा का इस देश में प्रचलन नहीं था और न उसका यहाँ के निवासियों की पूजा-विधि में किसी भी रूप में समावेश हो पाया था ।



## मूर्तिपूजा और पौराणिक काल

महाभारत युद्ध के पश्चात् इस देश का घोर पतन प्रारम्भ होगया। देश अनेक माण्डलिक राज्यों में विभक्त होगया और धर्म के नाम पर सब ही पापाचार किये जाने लगे। इसी काल में तत्र ग्रन्थों की रचना हुई और सर्वत्र वाममार्ग प्रचलित हो गया। रामायण काल में जहाँ यज्ञ, मांसादि पडने से विध्वंस हुए समझे जाते थे, उन्ही यज्ञों में अब पशु बलि दी जाने लगी। अबमेघ गोमेघ तथा नरमेघ वैदिक यज्ञों में घोड़ा, गौ तथा मनुष्य की बलि देकर “वैदिक हिंसा, हिंसा न भवति” की लोकोक्ति गढ़ली गई और उसकी आड़ में सभी प्रकार की हिंसा प्रचलित होगई। यह काल धार्मिक दृष्टि से इस देश के महान पतन का समय कहा जा सकता है। जिन राक्षसों को देश से निकालने के लिए राम ने घोर युद्ध किया था, उन्ही राक्षसों का इस समय यहाँ साम्राज्य था। नरमुण्डो को गले में लटकाये मनुष्य की खोपडी का पात्र हाथ में लिए कपाली विचरते थे। श्मशान इनका निवास स्थान था तथा नरमांस इनका भोजन था। लोग इनको सिद्ध महात्मा समझ कर पूजा करते थे। परन्तु इस धार्मिक ह्रास काल में भी इस देश में मूर्तिपूजा प्रचलित नहीं हुई थी अपितु यज्ञों का ही अत्यन्त विकृत रूप में प्रचार था।

जैन और बौद्ध धर्म का जन्म इसी दुरवस्था की प्रतिक्रिया थी। जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं, इसी समय देश में विदेशियों

के आगमन तथा उनके सम्पर्क से मूर्तिपूजा का सूत्रपात हुआ और धीरे-धीरे वाममार्गीय हिंसायुक्त यज्ञों का स्थान मूर्तिपूजा ने ले लिया ।

भगवान् बुद्ध ने यज्ञों का निषेध किया और सदाचारपूर्ण जीवन पर विशेष बल दिया । बुद्ध की शिक्षाओं में मूर्तिपूजा का कहीं कोई उल्लेख नहीं है । बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् भी बौद्ध धर्म में मूर्तिपूजा का कोई स्थान नहीं था । परन्तु पीछे से विदेशियों के सम्पर्क से बौद्धों में भी मूर्तिपूजा प्रचलित होगई । बौद्ध धर्म भी अनेक सम्प्रदायों में विभाजित होगया और बौद्ध-काल का समस्त वैभव अस्तव्यस्त होने लगा ।

इसी समय श्री शङ्कराचार्य ने पुनः वैदिक धर्म की स्थापना का प्रयास किया, जिसके आधार विशेषतः उपनिषद्, वेदान्त-दर्शन तथा गीता थे, जो आज भी 'प्रस्थानत्रयी' के नाम से प्रसिद्ध है । शङ्कर स्वामी ने मूर्तिपूजा का खण्डन करके बौद्ध धर्म के साथ उसे भी इस देश से निर्वासित करने का प्रयत्न किया, किन्तु उन्हें इसमें सफलता नहीं मिली । अपनी पुस्तक 'परापूजा' में उन्होंने मूर्तिपूजा की निम्न शब्दों में कड़ी आलोचना की है—

१—पूर्णस्यावाहनं कुत्र सर्वाधारस्य वासनम् ।

स्वच्छस्य पाद्यमर्घ्यं च, शुद्धस्याचमनं कुत ॥

२—सर्वाधारो निराधारः सर्वव्यापक ईश्वरः ।

प्राणादिप्रेरकत्वेन जीवने हेतुरेव च ॥

पुराणवाक्यम्—

३—अधमा प्रतिमा पूजा, स्तोत्रजाप्यं च मध्यमा,

उत्तमा निगमा पूजा सोऽहं पूजा महात्मनः ॥

४—तीर्थेषु पशुयज्ञेषु काष्ठपापाणामृन्मये ।

प्रतिमाया मनोयेषा ते नरा मूढचेतसः ॥



- ५—नापाणैरालय वध्वा देवः पापाण एव च ।  
ब्रूहि पण्डित ! देवस्तु कस्मिन् स्थाने स तिष्ठति ॥
- ६—स्वगृहे पायसं त्यक्त्वा भिक्षामिच्छति दुर्मतिः ।  
शिलामृतदारुचित्रेषु देवता बुद्धिकल्पिता ॥
- ७—निर्मलस्य कुत स्नानं वस्त्रं विश्वोदरस्य च ।  
निरालम्बस्योपवीतं च, रम्यस्याभरणं कुतः ॥
- ८—निलोपस्य कुतो गन्धं पुष्पं निर्वासनस्य च ।  
निर्गन्धस्य कुतो घृषं स्वप्रकाशस्य दीपकम् ॥
- ९—नित्यतृप्तस्य नैवेद्यं निष्कामस्य फलं कुतः ।  
ताम्रमूलं च विभो कुत्र नित्यानन्दस्य दक्षिणा ॥
- १०—स्वयं प्रकाशमानस्य कुतो नीराजनं विधिः ।  
प्रदक्षिणाह्यानन्तस्य चाद्वितीयास्य का नतिः ॥
- ११—अन्नं ब्रह्मिण्यं पूर्णस्य कथमुद्वासनं भवेत् ।  
इयमेव परापूजा शम्भो सत्यपरायण ॥
- १२—देहो देवालयः प्रोक्तो जीवो देवः सनातनः ।  
त्यजेदज्ञाननिर्मल्यं सोऽहभावेन पूजयेत् ॥

१—पूर्ण का आवाहन कैसा ? सर्वाधार को आसन कैसा ?  
स्वच्छ के लिये पाद्य और अर्घ्य कैसा ? और शुद्ध के लिये  
आचमन कैसा ?

२—परमेस्वर सर्वाधार, निराधार और सर्वव्यापक है ।  
प्राणो का प्रेरक और जीवन का हेतु है ।

३—पुराणों का वाक्य है—प्रतिमा पूजा अधम है, स्तोत्रो  
का जपना मध्यम है, वेद पूजा सर्वोत्तम है, महात्माओं की पूजा  
'सोऽहम्' है ।

४—तीर्थ, पशुयज्ञ, लकड़ी पत्थर और मिट्टी की मूर्तियों में जिनके मन लगे हैं, वे मनुष्य मूढ अज्ञानी हैं ।

५—पत्थरों से एक स्थान में बांधकर और देव को पाषाण बनाकर, अरे पण्डित ! कह तो सही, वह देवता कहाँ पर रहता है ?

६—अपने घर में खीर छोड़ कर, अरे दुर्मति ! भिक्षा मांगता फिरता है ! पत्थर, मिट्टी और लकड़ियों के चित्र में देवता बुद्धि रखता है ।

७—अरे निर्मल का स्नान कैसा ? विश्वोदर के लिये वस्त्र कैसे ? निरालम्ब के लिए यज्ञोपवीत कैसा ? और रम्य के लिए आभूषण कैसे ?

८—निर्लेप के लिए गन्ध क्या ? निर्वसन के लिए पुष्प क्या ? निर्गन्ध के लिए धूप कैसी ? स्वप्रकाश के लिए दीपक दिखाना क्या ?

९—नित्यतृप्त के लिए नैवेद्य क्या ? निष्काम के लिए फल कैसे ? विभु के लिये ताम्बूल कैसा ? और नित्यानन्द के लिए दक्षिणा का क्या काम ?

१०—स्वयं प्रकाश के लिए दीपक क्या दिखाना ? अनन्त की प्रदक्षिणा क्या करनी ? अद्वितीय को नमस्कार क्या करना ?

११—जो भीतर और बाहर परिपूर्ण है उसके लिए विसर्जन कराना क्या ? परमात्मा की पूजा विधि यही है कि—

१२—इस शरीर को देवालय बनाओ और सनातन जीव को देवता समझो, अज्ञानरूप निर्मात्य को तजो और 'सोऽह' भाव से पूजा करो ।

इसी भांति श्री शंकर स्वामी ने ईश्वर के साकारत्व का अपने भाष्यो में स्थान-स्थान पर खण्डन किया है। वेदान्त भाष्य से कुछ उद्धरण हम यहाँ देते हैं—

“नैकस्मिन्नसम्भवात्” ।२।२।३३ (वेदान्त)

इस पर भाष्य करते हुये शंकर स्वामी कहते हैं—

“नह्येकस्मिन् धर्माणि युगपत् सदसत्त्वादि विरुद्ध धर्म समावेशः सम्भवति जीतोष्णावत्” ।

“एक वस्तु में एक ही समय में दो विरोधी गुण सरदी गर्मी के समान नहीं रह सकते।”

भाव यह है कि इसी प्रकार साकारता निराकारता दो विरोधी गुण एक साथ ब्रह्म में नहीं हो सकते।

न स्थानतोपि परस्योभयलिङ्ग सर्वत्र हि ।३।२।११। (वेदान्त)  
पर भाष्य करते हुये लिखते हैं—

“तत्रोभयोलिङ्ग श्रुत्यनुग्रहादुभयलिङ्ग भवे ब्रह्मेत्येवं प्राप्ते ब्रूम । न तावत् स्वत एव परस्य ब्रह्मण उभय लिङ्गत्वमुपपद्यते । नह्येक वस्तु स्वतएव रूपादि विशेषोपेत तद्विपरीत चेत्यवधारयितु शक्य विरोधात् । .....सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरेषु वाक्येषु “अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्” ।

(इस प्रश्न का कि उपनिषदों में ब्रह्म के दो रूप निराकार और साकार पाये जाते हैं, उत्तर शंकर स्वामी ने अपने इस भाष्य में दिया है) ब्रह्म के दो रूप नहीं हो सकते। ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसमें दो विपरीत गुण साकारता और निराकारता रहे क्योंकि यह दोनों गुण परस्पर विरोधी हैं। .....सब जगह ही ब्रह्म के रूप का प्रतिपादन करने वाले वाक्यों में ब्रह्म को शब्द, स्पर्श एव रूप रहित और अव्यय, अत्रिकारी ही कहा है।

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः । वेदान्त सूत्र २।२।४०

“शरीरत्वे सति ससारिवद् भोगादिप्रसङ्गादीश्वरस्यापि  
अनीश्वरत्वं प्रसज्येत्”

शरीर सहित साकार होने पर, ससारी पुरुष के समान भोगादि के प्रसंग से ईश्वर होने पर उसमें भी अनीश्वरत्व हो जायगा ।

गणेश पूजा की आलोचना करते हुये शङ्कर स्वामी कहते हैं. —

“भो गणपत्या सत्यमुक्त भवतां गणपतेः सर्वोत्तमत्वं वन-  
मथावलाद् द्राघुत्पत्तिश्चेति भवद्भि प्रतिपादितं किलतदममञ्जसम्  
प्रतिभाति । कथं सगुणस्य गजमुखस्य गणपते रुद्रगणैः  
लयोऽनुगस्य जगत् कारणत्वं कल्पयितुमुचितम् । किञ्च रुद्रसुत  
इतिलोके प्रसिद्धरस्ति, तस्य ब्रह्मणत्वे कल्पिते पित्रादिकारणत्वं  
सुतस्यानुचितमेव, अतो रुद्रादिकारण परब्रह्मैव ‘सदेव सीम्येदम्  
आनीत्’ इत्यादि वाक्यात्’ ।

शङ्कर दिग्विजय पृ० ८४

गणपति के पूजक ! तुम्हारा यह कहना है कि गणपति सबसे उत्तम है सत्य नहीं है । सगुण गणेश, गजमुख वाला जो रुद्र के गणों के साथ उत्पन्न और नष्ट होता है, वह जगत का कारण कैसे हो सकता है ? क्योंकि वह रुद्र का पुत्र है, यह लोक में प्रसिद्ध है । उसको ब्रह्म मानोगे तो यह पुत्र होने से रुद्रादिको का कारण नहीं होगा । इसलिये ब्रह्म ही रुद्रादि का कारण है । ‘वही सत्य रूप सृष्टि के पूर्व था’ इत्यादि उपनिषद् प्रमाण हैं ।

शङ्कर भाष्य से ऐसे ही अन्य प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं, किन्तु ग्रन्थ विस्तार भय से हम उन्हें यहाँ नहीं देते । परन्तु श्री शङ्कराचार्य का मूर्तिपूजा के विरुद्ध प्रयत्न विफल रहा और

बौद्ध-धर्म के पतन के साथ इस देश में अनेक प्रकार की मूर्तियों की रचना होती ही गई जिन्होंने बुद्ध तथा तीर्थङ्करों की मूर्तियों का स्थान ग्रहण कर लिया। अनेकानेक पुराणों की रचना भी इसी काल में की गई। वर्तमान हिन्दू-धर्म की मूर्तिपूजा आचार-विचार, पर्व, तीर्थ, जन्म-जात-वर्णव्यवस्था सब ही की रूपरेखा इसी समय की गई। उसके तीन मुख्य सम्प्रदायों—शैव, शाक्त तथा वैष्णव, का जन्म भी इसी काल में हुआ। अठारह महा-पुराण इन ही तीन सम्प्रदायों के आधारभूत ग्रन्थ हैं। वैष्णव-सम्प्रदाय-प्रधान पुराणों ने मूर्तिपूजा, अवतारवाद, तीर्थ माहात्म्य को जितना महत्व दिया है, उतना शैव अथवा शाक्त-प्रधान पुराणों ने नहीं दिया।

पुराणों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में भी विद्वानों ने मूर्तिपूजा का विरोध किया। उन्होंने या तो इसका सर्वथा खण्डन किया, या उसे अज्ञानी, मूर्ख अथवा निचली श्रेणी के लोगों की वस्तु-वताकर ज्ञानियों के लिये उसका निषेध किया। मन्दिरों में पूजा कार्य ब्राह्मणों ने स्वीकार नहीं किया और यदि किसी ने लालच-वश स्वीकार कर लिया तो उसे जातिच्युत कर दिया गया। पुराणों से ऐसे ही कुछ प्रमाण हम नीचे देते हैं:—

प्राप्ते कलावहह दुष्टतरे च काले ।

न त्वा भजन्ति मनुजा ननु वञ्चितास्ते ।

धूर्त. पुराणचतुरैर्हरिश्चङ्कराणा, ।

सेवापराश्चविहितास्तव निर्मितानाम् ॥१२॥

देवी भागवत स्क० ५ अ० १६

इस घोर कलियुग में पुराणों के बनाने में धूर्त चतुर लोगों

ने विष्णु शिव आदि की पूजा अपने पेट भरने के लिये चलाई ।

नाम्बुमयानि तीर्थानि न देवाः मृच्छलामयाः ।

ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥११॥

नाग्निर्ग सूर्यो न च चन्द्रतारकाः,

न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ् मनः ।

उपासिता भेदकृता हरन्त्यथ,

विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया ॥१२॥

यस्यात्मबुद्धि.कुण्पे त्रिधातुके, स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधी ।

यत्तीर्थबुद्धि. सलिलेन कर्हिचित्, जनेष्वभिज्ञेषु स एवगोखर. ॥१३॥

श्रीमद्भागवत स्क० १० अ० ८४

पानी वाले तीर्थ नहीं होते, मिट्टी और पत्थरो की मूर्तियां देवता नहीं होती । वे बहुत काल में भी पवित्र नहीं करते । साधु महात्मा के दर्शन ही पवित्र करते है । १। अग्नि, सूर्य, चाद, तारे, भूमि, जल, आकाश, वायु, वाणी, मन आदि पदार्थों की उपासना से पाप दूर नहीं होता । इनकी पूजा परमात्मा से अलग करने वाली है । विद्वानो की थोडी सेवा भी पापों को हरती है । १२। वात, पित्त, कफ तीन मलो से बने हुए शरीर मे जो आत्म-बुद्धि, स्त्री आदि में स्वबुद्धि, पृथ्वी से बनी हुई मूर्तियों में जो पूज्यबुद्धि और पानी मे तीर्थ बुद्धि कभी भी करता है, वह गोखर-गौओ का चारा ढोने वाला गधा है । १३।

इसी प्रकार कर्पलदेव, जिनकी अवतारो में गणना है कहते है:—

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थित सदा ।

तमवज्ञाय मा मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥२१॥

यो मा सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।

हित्वाचा भजते मायाद् भस्मन्येव जुहोति स ॥२२॥  
अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयाऽनघे ।

नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चाया भूतग्रामावमानिन ॥२४॥

श्रीमद्भागवत स्क० ३ अ० २६ ।

सर्व प्राणियो मे जीवात्मा रूप से मैं व्याप्त रहता हूँ । जो मेरा निरादर करके मूर्ति का पूजन करते हैं, यह विडम्बना है । मैं सबकी देह में रहने वाला हूँ । जो मनुष्य मुझे त्याग कर प्रतिमा का पूजन करते हैं, वे अपनी अज्ञानता से राख में हवन करते हैं । २२। हे जननि ! ऊँचे नीचे पदार्थों से, कर्म से, पूजा से, मैं सन्तुष्ट नहीं होता हूँ तथा जो प्राणियो का तिरस्कार करते हैं, उन पर मैं प्रसन्न नहीं होता हूँ ।

नह्यम्बुमयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।

ते पुनन्त्यपि कालेन विष्णुभक्ता क्षणादहो ॥४२॥

देवी भागवत स्क० ९ अ० ७

पानी के तीर्थ नहीं होते, मिट्टी और पत्थरों के देवता नहीं होते, वे किसी काल में भी पवित्र नहीं करते ।

तीर्थानि तोययूर्णानि देवान् पापाणामृन्मयान् ।

योगिनो न प्रपद्यन्ते स्वात्मप्रत्ययकारणात् ॥

शिवपुराण दे० सं० ३६।२६

जल से पूर्ण तीर्थ और पत्थर तथा मिट्टी के देवताओं को योगिजन अपने आत्म विश्वास से नहीं मानते ।

शिवपुराण में भिन्न-भिन्न धातुओं के भिन्न-भिन्न वर्णों में शिवलिङ्ग पूजने का विधान है । परन्तु इस समय देश में सर्वत्र पत्थर के ही लिङ्ग की पूजा प्रचलित है, जो शिवपुराण के

अनुसार केवल शूद्रों के लिए विहित है—“शिलालिङ्गं तु शूद्राणां महाशुद्धिकरं शुभम् ॥” ४६॥ शि० पु० विद्ये० स० १—१८ । इससे भी सिद्ध है कि प्रचलित “शिवलिङ्ग” पूजा शूद्रों के लिये ही प्रचलित की गई थी ।

सम्राट् चन्द्रगुप्त के मंत्री सुप्रसिद्ध नीतिकार चाणक्य ने भी मूर्तिपूजा को थोड़ी बुद्धि वालों के लिए बताया है—

अग्निर्देवो द्विजातीना मुनीना हृदि दैवतम् ।

प्रतिमा स्वल्पबुद्धीना सर्वत्र समदर्शिना ॥१६॥

चाणक्यनीति अ० ४

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का देवता अग्नि (अग्निहोत्र) है, मुनियों के हृदय में देवता है, थोड़ी बुद्धि वालों को मूर्ति और समदर्शियों के लिए सर्वत्र ही देवता है ।

पुजारियों के लिए भी पुराणों में यत्र तत्र निन्दनीय शब्दों का प्रयोग किया गया है और उन्हें जाति से बहिष्कृत करने को कहा है । वाराह पुराण में, किन-किन ब्राह्मणों को श्राद्ध में भोजन न कराया जाय, की गणना करते हुए ‘देवलक’ अर्थात् मन्दिर के पुजारी का भी नाम लिया है—

वृषली सूतिपोष्यञ्च वृषलीपतिरेव च ।

तथा देवलकञ्चैव श्राद्धे नाहन्ति केतनम् ॥१४॥७॥

वृषली (दुराचारिणी) सूति (नवप्रसूता) वृषली का पति तथा मन्दिर के पुजारी श्राद्ध-भोजन में स्थान पाने योग्य नहीं है ।

पञ्चपुराण जो “वैष्णव पुराण” है, विष्णु के अतिरिक्त अन्य देव मूर्तियों के दर्शन, स्पर्श, पूजा तथा उन पर चढ़ाये गये पदार्थ को सर्वथा त्यागने का बड़े कठोर शब्दों में निर्देश करता है:—



नान्य देव तु वीक्षेत ब्राह्मणो न च पूजयेत् ।  
 नान्य प्रनाद भु जीत नान्यस्यायतनविशेत् ।  
 इतरेषा तु देवानां निर्माल्य गृहित भवेत्  
 सकृदेव हि योऽस्नाति ब्राह्मणो ज्ञानदुर्वलः ॥६७॥  
 निर्माल्य शङ्करादीना स चण्डालो भवेद् ध्रुवम् ।  
 कल्पकोटि सहस्राणि पच्यते नरकाग्निना ॥६८॥  
 निर्माल्य भो द्विजश्रेष्ठा रुद्रादीना दिवीकसाम् ।  
 रक्षोयक्ष पिश.चन्न मद्यमाससम स्मृतम् ॥६९॥

अर्थात् ब्राह्मण दूसरे देवता का न तो दर्शन करे और न उसे पूजे, न उसके प्रसाद को खाय और न उसके मन्दिर में जाय । दूसरे देवताओं का निर्माल्य भी ग्रहण न करे । जो मूर्ख ब्राह्मण इस निर्माल्य को खाता है, वह मानो विष्टा खाता है । शङ्करादि के निर्माल्य को खाने वाला, निश्चय ही चाण्डाल होता है । वह नरकाग्नि में करोड़ों कल्प तक पडा रहता है । हे ब्राह्मणो ! शिवादि देवताओं का निर्माल्य मद्य मास के तुल्य है ।

भविष्यपुराण की रचना अन्य पुराणों की अपेक्षा नवीनतम समझी जाती है । इसमें मुसलमानों के आक्रमण तथा अगरेजों के आगमन तक का उल्लेख भविष्यवाणों के रूप में किया गया है, जो इस पुराण की नवीनता सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है । इसी पुराण में एक अत्यन्त मनोरञ्जक कथा मिलती है, जिससे सिद्ध होता है कि आज से कुछ गताब्दि पूर्व तक ब्राह्मण मन्दिरों में पुजारी कार्य करने को निन्दनीय समझते थे ।

श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब ने अपने पिता द्वारा दिये गए शाप से मुक्त होने के लिये नगरद के आदेशानुसार सूर्य का एक बहुत बड़ा मन्दिर निर्माण किया और उसमें सूर्य की मूर्ति की स्थापना

की। उसी कथा के एक आवश्यक अंश को 'भविष्य पुराण भाषा' से उसी के शब्दों में संक्षेपतः उद्धृत करते हैं—

साम्ब कहते हैं कि हे नारद जी, आपके अनुग्रह से सूर्य नारायण का मुझे प्रत्यक्ष दर्शन हुआ और उत्तम रूप भी पाया, परन्तु एक चिन्ता मुझे बहुत है कि इस मूर्ति का पूजन और रक्षा कौन करेगा यह आप मुझे बतावे जिससे मेरी चिन्ता निवृत्त होय यह सुन नारद जी ने कहा कि हे साम्ब ब्राह्मण तो कोई इस काम को स्वीकार न करेगा क्योंकि जो ब्राह्मण देव धन से अपना निर्वाह करते हैं वे देवलक कहाते हैं और शूद्र की भाँति पक्ति बाह्य होते हैं और देवधन और ब्राह्मण धन को लोभ से ग्रहण करते हैं वे नरक में पड़ते हैं और वहाँ उनको गृद्धो का उच्छिष्ट भोजन मिलता है इसलिये कोई ब्राह्मण देवता का पूजक नहीं बनना चाहना अब तुम सूर्यनारायण से ही पूछो कि जो उनका पूजन विधि से किया करे अथवा उग्रसेन राजा के पुरोहित से कहो जो कदाचित् इस काम को स्वीकार करे-यह नारद जी का वाक्य सुन साम्ब उग्रसेन के पुरोहित गौरमुख के घर गये गौरमुख भी स्नान सध्या कर अपने घर में स्वस्थ बैठे थे साम्ब ने प्रणाम कर अपना अभिप्राय उनसे प्रकट किया कि महाराज मैंने सूर्यनारायण का प्रासाद बनाया है उसमें पत्नी सहित सूर्यनारायण की प्रतिमा स्थापन करी है और अपने नाम से नगर बसाया है अब मेरी यह प्रार्थना है कि आप इसको ग्रहण करें यह साम्ब का वचन सुन गौरमुख बोले कि हे साम्ब हम ब्राह्मण हैं और आप "राजा हो जो यह प्रतिग्रह हम आप से ग्रहण करे तो ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाय और शूद्र के तुल्य देवलक बन जाय, जन्मान्तर में राक्षस बने और तुमको भी केवल पाप ही प्राप्त होय देवलक जिस पक्ति में बैठ

भोजन करे वह पक्ति अपवित्र हो जाती है और कृच्छ्रचान्द्रायण किये विना शुद्ध नहीं होती देवलक जिसके यज्ञोपवीत आदि सस्कार करे उसके पिता अधोगति को प्राप्त होते हैं और सब प्रतिग्रह तो ब्राह्मण ग्रहण करते हैं परन्तु देव प्रतिग्रह ब्राह्मण को कभी न लेना चाहिए इत्यादि” ( भविष्य पुराण भाषा पूर्वार्द्ध १३३ अ० । नवलकिशोर प्रिंटिंग प्रेस लखनऊ, जून सन् १८९१ ई० )

आज से लगभग ग्यारह सौ वर्ष पूर्व इतिहास प्रसिद्ध अरब यात्री अलबरूनी भी, जिसने इस देश में ३०-४० वर्ष रह कर अनेक संस्कृत ग्रन्थों का अरबी अनुवाद किया है, हमारी इस धारणा की पुष्टि करता है। उसने अपनी ‘किताबुल-हिन्द’ के ११ वे अध्याय में उस समय के समस्त सम्प्रदायों का विवरण दिया है। सब देवताओं की आकृति का सविस्तार वर्णन किया है और मूर्तिपूजा के सिद्धान्त पर स्वयं भी विचार किया है। उसका कहना है, कि “यह मूर्तिपूजा केवल हिन्दुस्तान के जन-साधारण तथा मूर्खों का धर्म है, अन्यथा शिक्षित हिन्दू ऐसा नहीं समझते।” (अलबरूनी का भारत)

इसी प्रकार ‘भारत का धार्मिक इतिहास’ के ग्रन्थकार ने ( Crowford’s History of the Indian Archipelago, 1820 Vol II, and Journal of Indian Archipelago Vol. II, III, & IV ) श्री क्रोफोर्ड के भारतीय द्वीप समूह के इतिहास से जो उद्धरण दिये हैं, उनसे सिद्ध होता है कि यवद्वीप में बौद्ध धर्म का प्रावलय होने पर कुछ हिन्दू बालि द्वीप में जा बसे। वे अब तक यथा-विधि हिन्दू धर्म का पालन करते हैं। “प्राचीन हिन्दुओं की भाँति वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में विभक्त

है। अद्यापि वहां हिन्दू राजा राज करते हैं। ब्राह्मण निरामिष भोजी हैं। उनका यही की तरह सम्मान होता है।..... ब्राह्मण लोग मूर्तिपूजा नहीं करते।” इससे भी भली प्रकार सिद्ध होता है कि इस देश में मूर्तिपूजा प्रचलित होने पर भी ब्राह्मणादि विद्वान् लोग मूर्तिपूजा नहीं करते थे और उसे हेय समझते थे।

पुराणों में जहां मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद का निरूपण है, वहाँ ऐसे भी स्थल हैं, जहां ईश्वर को स्पष्ट शब्दों में निराकार, सर्व-व्यापक और अजन्मा बताया है, जिससे मूर्तिपूजा एवं अवतारवाद की आधारशिला ही हिल जाती है और इस साम्प्रदायिक भ्रमभावत में भी प्राचीन वैदिक सिद्धान्तों की कही-कही झलक दीख पड़ती है। पुराणों के ऐसे ही स्थलों से कुछ श्लोक हम नीचे देते हैं:—

निर्गुणस्य मुने रूपं न भवेदृष्टिगोचरम् ।

दृश्यं च नश्वरं यस्मादरूपं दृश्यते कथम् ॥८८

दे० भा० स्क० ३ अ० ७

(ब्रह्मा बोले) हे मुने! निर्गुण का रूप दृष्टिगोचर नहीं होता। कारण कि दृश्य तो नश्वर है। अरूप का दर्शन कैसे हो सकता है?

एको व्यापी सम शुद्धो निर्गुणः प्रकृतेः परः ।

जन्म वृद्ध्यादिरहित आत्मा सर्वगतोऽव्ययः ॥८९॥

परजानमयोऽसद्भिर्नामजात्यादिभिर्विभुः ।

न योगवान्न युक्तोऽभून्नैव पार्थिव चोच्यते ॥९०॥

विष्णु पु० अ० २ आ० १४

जन्म से रहित आत्मा, एक व्यापक, सम, शुद्ध, निर्गुण और प्रकृति से परे है। वृद्धि आदि से रहित, सर्वव्यापी और अव्यय है ॥८९॥

हे राजन् ! वह परम ज्ञानमय है, असत् नाम और जाति आदि से उस सर्व व्यापक का योग न कभी हुआ है, न है, और न होगा ।

विष्णु पुराण मे विष्णु शब्द की व्याख्या भी 'सर्वव्यापक' अर्थ में की गई है—

यस्माद्विष्टमिद विश्व तस्य शक्त्या महात्मनः ।

तस्मात्प्रोच्यते विष्णुविशेषातोः प्रवेशनात् ॥४५॥

वि० पु० अ० ३ अ० १

यह सम्पूर्ण विश्व उस परमात्मा की शक्ति से व्याप्त है । अतः वह विष्णु कहलाता है । क्योंकि 'विश' धातु का अर्थ प्रवेश करना है ।

न ह्यादिमध्यान्तमजस्य यस्य विद्योवयं सर्वमयस्यधातुः ।

न च स्वरूप न परं स्वभाव न चैव सारं परमेश्वरस्य ॥८३॥

कलामुःर्त्तादिमयञ्च कालो न यद्विभूतेः परिणामहेतुः ।

अजन्मनञ्चास्य सदैकमूर्तेरनामरूपस्य सनातनस्य ॥८४॥

वि० पु० अ० श ४ अ० १

जिस अजन्मा, सर्वमय, विद्योता, परमेश्वर का आदि, मध्य, अन्त, स्वरूप, स्वभाव और सार हम नहीं पाते ॥८३॥ कल। मुहूर्त्तादिमय काल भी जिसकी विभूति के परिणाम का कारण नहीं हो सकता जिसका जन्म और मरण नहीं होता जो सनातन और सर्वदा एक रूप है तथा जो नाम रूप से रहित है । ८४

परमात्मा इन आँखों से नहीं देखा जा सकता, स्वाध्याय तथा योग द्वारा ही उसके दर्शन होते हैं, इस विषय पर भी निम्न श्लोक बड़ा सुन्दर प्रकाश डालते हैं और 'ईश्वर प्राप्ति का साधन मूर्ति-पूजा नहीं है' का प्रतिपादन करते हैं—

स्वाध्याययोगमासीत् योगात्स्वाध्यायमामनेत् ।  
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥२  
तदीक्षणाय स्वाध्यायश्चक्षुर्योगस्तथापरः ।  
न मा स चक्षुषा द्रष्टुं ब्रह्मभूतः स शक्यते ॥३

वि० पु० अ० ६ अ० ६

स्वाध्याय से योग का और योग से स्वाध्याय का आश्रय करे । इस प्रकार स्वाध्याय और योग रूप सम्पत्ति से परमात्मा प्रकाशित होते हैं । ब्रह्मस्वरूप परमात्मा को मांस-मय चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता । उन्हें देखने के लिये स्वाध्याय और योग ही दो नेत्र हैं ।

न तत्रात्मा स्वयं ज्योतिर्यो व्यक्ताव्यक्तयोः परः ।

आकाश इव चाधारो ध्रुवोऽनन्तोपमस्ततः ॥८

श्रीमद्भा० स्क० १२ अ० ५

ज्योतिस्वरूप परमात्मा व्यक्त पदार्थों से सूक्ष्म अव्यक्त है । वह आकाश की भाँति सर्वाधार, निर्विकार, अन्तहीन और उपमा रहित है ।

अपाणिपादो जवनो गृहीता हृदिसस्थितः ।

अचक्षुरपि पश्यामि तथाकर्णं श्रणोम्यहम् ॥

कूर्म उपरिभाग अ० २ पृ० ४५६

मैं हृदय में स्थित रहने वाला, बिना पैरों के चलने और बिना हाथों ग्रहण करने के कार्य को करता हूँ । बिना आंखों के भी देखता और बिना कान के सुनता हूँ ।

प्रधानपुरुषातीतं प्रलयोत्पत्तिवर्जितम् ॥२०॥ लिङ्ग पु० अ० २

परमात्मा प्रकृति और जीव से ऊपर तथा उत्पत्ति और विनाश से रहित है ।

आधिव्याधिज रामृत्युशोकभीतिविवर्जितम् ।

ब्र० वै० पु० ब्र० खं० अ० २

परमेश्वर दुःख, रोग, बुढापा, मृत्यु शोक और भय से सर्वथा रहित है ।

गन्धवर्णारसैर्हीनं गन्धस्पर्शविवर्जितम् ।

अजात ध्रुवमक्षय्य नित्यं स्वात्मन्यवस्थितम् ॥१८

वायु पु० अ० ४

गन्ध, वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श, रूप विषयों से रहित, अजन्मा, नित्य अविनाशी परमात्मा अपने ही आत्मा में स्थित है ।

अचक्षुरपि यः पश्यत्यकर्णोऽपि शृणोति यः ।

सर्वं वेत्ति न वेत्तास्य तमाहु पुरुषं परम् ॥८७

शिव पु० वायु सं० अ० ४

बिना आँखों के भी वह देखता है और बिना कानों के भी सुनता है । वह सबको जानता है, उसको पूर्ण रूप से जानने वाला कोई नहीं । उसको परमात्मा कहा जाता है ।

सर्वं तत्र सर्वत्र व्याप्य तिष्ठति शाश्वतः ।

तथापि कापि केनापि व्यक्तमेव न दृश्यते ॥४६

नैवाय चक्षुषा ग्राह्यो नापरैरिन्द्रियैरपि ।

मनसैव प्रदीप्तेन महानात्मावसीयते ॥७४

तिलेषु वा यथा तैल दध्निवा सर्पिरपितम् ।

यथापि स्रोतसि व्याप्तो यथारण्याहुताशन ॥७४

एवमेव महात्मानमात्मन्यात्मविलक्षणम् ।

सत्येन तपसा चैव नित्ययुक्तोऽनुपश्यति ॥७५

शि० पु० वायु० सं० अ० ४

वह सब में सर्वत्र व्यापक होकर ठहरा हुआ है तो भी कहीं किसी से प्रकट रूप में नहीं देखा जाता १४६। न वह आँखों से देखा जा सकता है न अन्य इन्द्रियो से ग्रहण किया जा सकता है। प्रकाशित मन से ही वह महानात्मा प्राप्त किया जा सकता है १४७। जैसे तिलों में तेल और दही में घृत छुपा हुआ है, जैसे पानी स्रोत में तथा अरणी में अग्नि छुपा है। ७४। वैसे विलक्षण परमात्मा आत्मा में छिपा रहता है। उसको योगी सत्य और तप से नित्य अपने आत्मा में देखता है १७५।

समस्त पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा शक्ति की पूजा का ही विधेय रूप से वर्णन है। किन्तु प्रत्येक सम्प्रदाय का पुराण अपने-अपने उपास्य देव को ही सर्वोपरि बताते हुये दूसरे सम्प्रदायों के उपास्य देवों की निन्दा करता है। वैष्णव पुराण विष्णु को महान् और शेष ब्रह्मा, शिव तथा शक्ति को निकृष्ट सिद्ध करते हैं और उनके उपासकों को नरकगामी बताते हैं। इसी प्रकार शिव पुराण, शिव की महत्ता तथा अन्य देवों की निन्दा करता है। शाक्तों के पुराण देवी भागवत में ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की बड़े ही कठोर शब्दों में अलोचना की गई है। एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय के अनुयायियों के प्रति निःसंकोच अपशब्दों का प्रयोग करता है। इतना ही नहीं, इन पुराणों में इन देवों के पारस्परिक तुमल युद्ध और जय, पराजय का भी वर्णन है। जिसका कुछ दिग्दर्शन हम पाठकों को आगे करायेंगे।

पौराणिक काल की उपर्युक्त साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्द्विता से यह पूर्णतः सिद्ध होता है कि चाहे मूर्तिपूजा का आदि कारण कुछ भी रहा हो, किन्तु कालान्तर में इसका विस्तार व्यवसायिक बुद्धि से हुआ और आज भी यही भावना, इसकी असारता और दं पाँ



को जानते हुये भी, इसके परित्याग में बाधक है। जिस प्रकार एक दुकानदार अपनी वस्तुओं को सर्वश्रेष्ठ और दूसरे की वस्तुओं को निकृष्ट बताकर ग्राहकों को अपनी दुकान पर खींचने का प्रयत्न करता है ठीक यही दशा इन सम्प्रदायों की है। वे अपने देवता, एव तिलक छाप की प्रशंसा तथा दूसरों की निन्दा करके अपनी-अपनी दुकान जमाने का प्रयत्न करते हैं, अन्यथा यदि समस्त उपास्य देवों में एक ही ईश्वर की भावना होती तो इस प्रतिद्वन्दिता का कोई कारण ही नहीं था। बहुदेवतावाद का यह स्वाभाविक दुष्परिणाम है। पौराणिक काल की यही व्यवसायपूर्ण साम्प्रदायिक स्पर्धा आर्य जाति के आन्तरिक कलह का मुख्य कारण थी। उसी मनोवृत्ति का सक्षेप में हम यहाँ थोड़ा दिग्दर्शन करायेगे।

विष्णु तथा विष्णु के अवतारों की प्रशंसा करते हुये पद्म-पुराण लिखता है—

राघव सर्वदेवाना पालन. पुरुषोत्तमाः ॥११५

स्पृष्टा दृष्टाश्च ते नैव विमलाः शङ्करादयः ॥११६

प० पु० उत्त० ख० अ० २२५

सब देवों में पवित्र पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र हैं। जिनके स्पर्श और दर्शन से महादेवादि निर्मल हो गए।

कस्तेन तुल्यतामेति देवदेवेन विष्णुना ।-

यस्याशांशावतारेण विना सर्व विलीयते ॥३२७

प० पु० पाताल ख० ६७ ।

देवों के देव विष्णु की बराबरी कौन कर सकता है? जिसके अशाश अवतार के बिना सब विलीन हो जाते हैं।

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्म रुद्रादि दैवतैः ।

समत्वेनैव वीक्षेत् स पाषण्डी भवेत्मदा ॥६

प० पु० उत्तर खंड अ० २६३

जो विष्णु को ब्रह्म और रुद्रादि देवों के समान समझता है, वह सदा पाषण्डी है ।

किमत्र बहुनोक्तेन ब्राह्मणा येप्यवैष्णवाः ।

नस्पृष्टव्या न वक्तव्या न द्रष्टव्याः कदाचन ॥११

प० पु० उ० ख० २६३

अधिक क्या कहे जो विष्णु के सिवाय किसी भी देवता को मानेगा, उससे बात करना, उससे छूना तथा उसको देखना पाप है ।

अनर्च्या ब्रह्मरुद्राद्या रजतमोविमिश्रताः ।

त्व शुद्धसत्वगुणवान् पूजनीयोऽग्रजन्मनाम् । ६०

ब्रह्मा और शिव रजोगुण और तमोगुण युक्त हैं अतः ये पूजन योग्य नहीं हैं । हे विष्णु आप सतोगुण युक्त हो अतः आप ही ब्राह्मणों द्वारा पूजे जाने योग्य हैं ।

इतरेषा तु देवनामन्नं पुष्पं जलं तथा ।

अस्पृश्यन्तु भवेत्सर्वं निर्माल्य सुरया समम् । ६३

अन्य देवताओं का अन्न, पुष्प और जल छूने योग्य भी नहीं है, किन्तु सारा चढावा मंदिरों के समान होता है ।

इसी पुराण में शिवजी द्वारा ही उनकी निन्दा निम्न श्लोकों में कराई गई है—

देवतानां हितार्थाय वृत्तिः पापण्डिनां शुभे ।

कपालचर्मभस्मास्थि धारणा तत्कृतं मया ॥५३

ये मे मतमाश्रित्य चरन्ति पृथिवीतले ।

सर्वधर्मैश्च रहिताः पश्यन्ति निरयं सदा ॥६०

(प० पु० उ० ख० अ० २६६ आनन्द आश्रम प्रेस पूना)

शिवजी कहते हैं—हे शुभ पार्वती देवों के हित के लिये कपाल भस्म और अस्थि रखने वाली पाखण्डियो की वृत्ति मैंने धारण की है । जो मेरे मत को धारण कर पृथिवी पर आचरण करेंगे वे सारे धर्मों से भ्रष्ट होकर नरक को देखेंगे ।

पुगकदात्रिद्योगीन्द्र विष्णुर्विपधरासनः ।  
सुष्वाप परया भूत्या स्वानुगंरपि सुवृतः ॥१  
यहच्छयागतस्तत्र ब्रह्मा ब्रह्म विदावरः ।  
अपृच्छत् पुण्डरीकाक्ष शयान सर्व सुन्दरम् ॥२  
कस्त्व पुरुषवच्छेपे दृष्ट् वामामपि दृप्तवत् ।  
उत्तिष्ठ वत्स मा पश्य मव नाथमिहागतम् ॥३  
आगत गुरुमाराध्य दृष्ट्वा यो दृप्तवच्चरेत् ।  
द्रोहिणस्तस्य मूढस्य प्रायश्चित्त विधीयते ॥४  
इतिश्रुत्वा वचः क्रुद्धो वहिः शान्तं वदाचरन् ।  
स्वस्ति ते स्वागतं वत्स तिष्ठ पीठमितो विवा ॥५

ब्रह्मोवाच.—

किमु ते व्यग्रवद्वक्त विभाति विषमेक्षणम् ।  
वत्सविष्णो महामानमागत काल वेगतः ॥६

विष्णुरुवाचः—

पितामहश्च जगत पाता च तव वत्सक ।  
मत्स्थ जगदिदं वत्स मन्ये त्व हि चोरवत् ॥७

नन्दिकेश्वर उवाचः—

अहमेव वरो न त्वमहं प्रभुरह प्रभु ।  
परस्पर हन्तु कामी चक्रतुः समरोद्यमम् ॥८

हे योगीन्द्र ! आगे एक समय विष्णु भगवान् शेष शय्या पर अपने गरुड आदि पार्षदों से सयुक्त लक्ष्मी सहित शयन करते थे ॥१॥ उस समय ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ ब्रह्मा जी अपनी इच्छा से ही वहाँ आये और सब प्रकार सुन्दर सेज पर शयन करते हुए कमल लोचन विष्णु जी से पूछने लगे ॥२॥ तुम कौन हो जो मुझे देख कर अभिमानी पुरुष के समान शयन करते हो ? हे वत्स ! उठो, देखो मैं तुम्हारा स्वामी आया हूँ ॥३॥ आये हुए गुरु को देखकर जो अभिमान करता है, उस द्रोही मूढ का प्रायश्चित्त होना उचित है ॥४॥ यह सुनकर विष्णु जी के अन्तर में तो क्रोध हुआ, परन्तु बाहर से शान्त रहे और बोले हे वत्स ! तुम्हारा मङ्गल हो, बैठो, इस आसन पर विराजो ॥५॥ इस समय तुम्हारा नेत्र कुटिल और मुख व्यग्र हो रहा है । ब्रह्मा जी बोले हे वत्स ! विष्णु ! तुमको समय के प्रभाव से अभिमान है ॥६॥ हे पुत्र ! मैं तुम्हारा रक्षक और जगत का पिता हूँ । विष्णु जी बोले, यह तो सब जगत मुझ में स्थित है तुम चोर के समान किस प्रकार अपना कहते हो ॥७॥ मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं स्वामी हूँ ऐसा कह कर एक दूसरे को मारने की इच्छा से वे दोनों युद्ध करने की तैयार हो गये ॥८॥

स्व-सम्प्रदाय के तिलक, कण्ठी आदि वाह्य चिन्हों की प्रशंसा तथा अन्य सम्प्रदायों के चिन्हों की निन्दा भी इस साम्प्रदायिक संघर्ष का एक विशेष अङ्ग था । वैष्णव सम्प्रदाय के ऊर्ध्वपुण्ड्र तथा शंख चक्र चिन्हों की प्रशंसा एवं शैवों के भस्म धारण करने की निन्दा का नमूना नीचे देखिये:—

न तस्य किञ्चिदग्नीयादपि क्रतुसहस्रिणा ।

नवं वेदविदो वापि सर्वशास्त्र विगारदः ॥४२॥

अधृत्वा विधिना चक्रं ब्राह्मणं पतितो भवेत् ।

ऊर्ध्वपुण्ड्रविहीनस्तु शखचक्रविवर्जितः ॥४३॥

त गदंभे समारोप्य वहिः कुर्यात् स्वपत्तनात् ॥४४॥

पद्म पु० ३० । अ० २५३

जो हजार यज्ञ करे सम्पूर्ण वेद या सर्व शास्त्रों का ज्ञाता हो तथापि जो ऊर्ध्वपुण्ड्र तथा शंख चक्र, धारण नहीं करता, वह ब्राह्मण पतित हो जाता है। ऐसे लोगों को गधे पर चढा कर नगर से बाहर निकाल देना चाहिए। आगे और देखिये:—

यच्छरीर मनुष्याणामूर्ध्वपुण्ड्रविवर्जितम् ।

द्रष्टव्य नैव तत् किञ्चित् श्मशानमदृशं भवेत् । १२

ऊर्ध्वपुण्ड्रविहीनस्तु सध्याकर्मादिक चरेत् ।

तत् सर्वं राक्षसैर्नोति नरक चाधिगच्छति ॥१३

जिस मनुष्य के मस्तक पर ऊर्ध्वपुण्ड्र न हो, उसको कभी भी नहीं देखना चाहिये। वह मस्तक श्मशान के सदृश है। १२। जो मनुष्य ऊर्ध्वपुण्ड्र के बिना सध्यादि करता है, वह नरक को जाता है।

ब्राह्मणः कलजो विद्वान् भस्मधारी भवेद्यदि ।

वर्जयेत्तादृशं देवि मद्योच्छिष्टं घट यथा ॥१६

यदि कुलीन ब्राह्मण माथे पर भस्म लगावे, तो उसका मदिरा से भरे घट के समान दर्शन न करे।

शिवपुराणादि शैव ग्रन्थ, शिव की प्रशंसा से परिपूर्ण है किन्तु विष्णु, ब्रह्मा एव शक्ति की उपासना तथा उनके बाह्य चिन्हों की भरपूर निन्दा करते हैं। शिव पुराण केवल शिव को ही ब्रह्म बताता है, शेष देवता अथवा अवतार उसकी दृष्टि में जीव मात्र हैं:—

शिवैको ब्रह्म रूपत्वान्निष्कल परिकीर्तितः ॥१०

निष्कलत्वान्निराकारं लिङ्गम् तस्य समागतम् ॥११

अब्रह्मत्वात्तदन्येषा निष्कलत्वं नहिक्वचित् ॥१३

ब्रह्मत्वाच्च जीवात्वात्तथान्ये देवता गणाः ॥१४

जीवत्वं शङ्करान्येषा ब्रह्मत्वं शङ्करस्य च ॥१५

शिवान्येषा च जीवत्वात् सकलत्वाच्च सर्वतः ॥२२

शि० पु० विद्ये० सं० अ० ५

शिव ही एक ब्रह्मरूप होने से निष्कल कहलाते हैं । १० ।  
निष्कल होने से निराकार ही उसका स्वरूप और चिन्ह है । ११ ।  
शिव जी को छोड़ कर और देवता ब्रह्म नहीं अतः वे निष्कल  
नहीं हो सकते । १३ । दूसरे देवता ब्रह्म नहीं जीव हैं । १४ । शङ्कर  
के अतिरिक्त औरों में जीवत्व और शङ्कर में ब्रह्मत्व है । १५ ।  
शिव से अन्य देवता जीवरूप होने से सब प्रकार कलायुक्त ही हैं  
( निष्कल नहीं ) २२ ।

शिव सामान्य वक्तार शिव सामान्य दर्शिनं ।

दृष्ट्वा स्नायात् सचैलं सन् शिव सामान्यसद्भिन्नम् ॥७५

जो शिव के समान अन्य देवों को बतलाता है वा शिव  
समान देखता है, उसको देख कर कपड़ो सहित स्नान करना  
चाहिए ।

महेत्येव दामोऽयं विष्णुस्तेनानुकम्पितः ॥५

यह वेचारा विष्णु, शिवजी का दास है ।

इन्द्रोपेन्द्रादयः सर्वे महेत्येव किङ्कराः ॥६

इन्द्रादि सब देवता शिव के ही दास हैं ।

तेन तुभ्यो यदा विष्णुर्ब्रह्मा वा यदि गच्छते ।

पण्डित्वर्षं सहन्वाणि विष्ठाया जायते कृमि ॥१७

लिङ्ग पु० उत्तर भाग । अ० ११

जो मनुष्य विष्णु, ब्रह्मादि को शिव के समान कहता है, वह ६० हजार वर्ष तक विष्ठा का कीड़ा बनेगा ।

शिवलिङ्गं समुत्सृज्य यजन्ते चान्यदेवताः ।

स नृपा सह देशेन रौरव नरक व्रजेत् ॥३५॥

शिवभक्तो न यो राजा भक्तोऽन्येषु सुरेषु च ।

स्वपतिं युवतिस्त्यक्त्वा यथा जारेषु राजते ॥३६॥

लिङ्ग पु० उत्तरभाग । अ० ११

शिवलिङ्ग की पूजा छोड़ कर जो अन्य देवताओं की पूजा करता है, वह राजा अपने देश सहित रौरव नरक में जाता है । जो राजा शिव की भक्ति न करके अन्य देव की भक्ति करता है, वह उस युवति के समान है, जो अपने पति को छोड़ कर जार पुरुष के साथ भोग करती है ॥३६

शैव ग्रन्थों में शिव द्वारा ब्रह्मा तथा विष्णु को युद्ध में पराजित करने का भी अनेक स्थानों पर वर्णन है । शिवाज्ञा से भैरव ने ब्रह्मा का पाँचवा शिर काट लिया और शिवजी ने विष्णु-अवतार नरसिंह की जो दुर्दशा की; उसका वर्णन पुराणों के ही शब्दों में हम नीचे देते हैं—

नन्दिकेश्वर उवाच.—

ससर्जाय महादेव. पुरुषं कश्चिदद्भुतम् ।

भैरवाख्य भ्रुवो मध्याद् ब्रह्मदर्पजिघासया ॥१

सर्वे तदा तत्र पतिं प्रणम्य शिवमागरो ।

किं कार्यं करवाण्यत्र शीघ्रमाज्ञापय प्रभोः ॥२

वत्स योऽयं विधि साक्षाजगतामाद्यदेवतम् ।

नूनमर्चय खड्गेन तिग्मेन जवसा परम् । ३

सर्वे गृहीत्वैककरेण केश, तत्पंचमं दृप्तमसत्यभाषिणाम् ।

छित्वा शिरोह्यस्य निहन्तुमुद्यतः प्रकम्पयन्खड्ग मतिस्फुटं करैः । ४ ।

पिता तवोत्सृष्ट विभूषणाम्बरस्त्रगुत्तरीयामलकेश सहितः ।

प्रवालरम्भेव लतेव चञ्चलः पपात वै भैरव पाद पङ्कजे ॥ ५ ॥

नन्दिकेश्वर बोले—तब महादेव जी ने ब्रह्माजी का मद दूर करने के लिए अपनी भृकुटी के मध्य से एक अद्भुत पुरुष भैरव की रचना की । १। उत्पन्न होते ही समराङ्गण में उस पुरुष ने शिवजी को प्रणाम किया और कहा भगवान् ! मैं क्या करू ? शीघ्र आज्ञा दीजिये । २। शिवजी ने कहा—हे वत्स ! यह जो जगत् के आदि देवता ब्रह्मा हैं, इनकी तीक्ष्ण धार वाले वेगवान् खड्ग से पूजा करो अर्थात् प्रहार करो । ३। यह सुनते ही भैरव ने एक हाथ से केश पकड़ कर ब्रह्माजी का पाँचवाँ असत्यभाषी शिर काटते हुए खड्ग से उनके और भी शिर काटने की इच्छा की । ४। तब तुम्हारे पिता ब्रह्माजी आभूषण, माला और उत्तरीय वस्त्र त्याग केश खोले हुए, वायुवेग से केला और लंता के समान कम्पित, भैरव के चरणों में गिर पड़े । ५।

सहस्र बाहुर्जटिलश्चन्द्रार्द्धं कृत शेखरः ।

समृद्धोऽग्रशरीरेण पक्ष्म्यांचञ्चुना द्विजः ॥८॥

अत्ति तीक्ष्णो महादंष्ट्रो वज्रतुल्यनखायुधः ।

कण्ठे कालो महाबाहुश्चतुष्पाद् वह्निमन्निभः ॥९॥

हरिस्तद्दर्शनादेव विनष्टवलविक्रमः ।

विभ्रद्वाम सहस्राशोरघः खद्योतविभ्रमम् ॥१२॥

अथ विभ्रम्य पक्षाम्यां नाभिपादान् विदारयन् ।

पादान्बन्धुवन्वे पुच्छेन बाहुभ्यां बाहुमण्डलम् ॥१३॥

गिन्दन्नुरसि बाहुभ्यां निजग्राह हरो हरिम् ।

ततो जगाम गगनं देवैस्सह महर्षिभिः ॥१४॥



उड्डीयोड्डीय भगवान् पक्षघात विमोहितम् ।

हरिहरस्त वृषभं विवेशानन्त ईश्वर. ॥१६॥

सहस्रो भुजाधारी, जटा रक्ते, अर्ध चन्द्रमा को मस्तक पर धारण किये, भयङ्कर शरीर से युक्त पक्षों तथा चोच से शोभायमान । ८। अति तीक्ष्ण दाढ़ी वाले, वज्र के समान नख रूप शस्त्र धारे, कण्ठ मे काल, दीर्घ भुजा वाले चार चरण सहित अग्नि के समान गङ्कर नृसिंह के सामने प्रकट हुए । ९। उनके दर्शन मात्र से नृसिंह का बल पराक्रम नष्ट हो गया, जैसे सूर्य के तेज से जुगनू का तेज नष्ट हो जाता है । १२ । तब अपने पक्षों को घुमा कर नाभि और चरणों को विदीर्ण करते हुए, तथा पूछ से पैरो को, और दोनों भुजाओं से नृसिंह की भुजाओं को बाँधा । १३ । भुजाओं से हृदय को भेदन करते हुए शिव ने उन नृसिंहरूपधारी विष्णु को ग्रहण किया और देवता-महर्षियों के देखते-देखते आकाश को चले गये । १४। उड़-उड़ कर भगवान् शिव ने पक्षों से विष्णु को व्याकुल कर दिया, तब विष्णु बैल के नीचे छुप गये । १६।

यह सम्प्रदाय भी, शैव चिन्हों की प्रशंसा तथा अन्यो की निन्दा मे दूसरे सम्प्रदायों से पीछे नहीं है । इसकी दृष्टि मे जो लोग भस्म, त्रिपुण्ड तथा रुद्राक्ष धारण नहीं करते, वे पातकी हैं —

उद्धूलन त्रिपुण्ड च श्रद्धया नाचरन्ति ये ।

तेषां नास्ति समाचारो वर्णाश्रमसमन्वितः ॥१३॥

ते महापातकैर्युक्ता इति शास्त्रीयनिर्णयः ॥१६॥

दे० भा० स्क० ५ अ० ६ ।

जो भस्म और त्रिपुण्ड को श्रद्धा से धारण नहीं करते, उनका वर्णाश्रम युक्त आचरण नहीं है । १३ । वे महापातकी हैं यह शास्त्रीय निर्णय है । १६।

नाशनीयाज्जलमन्नमल्पमपि वा भस्माक्षघृत्या विना ।

भुक्त्वा वाथ गृही वनी यतिमती वर्णी तथा सङ्करः ।

एनोभुङ् नरक प्रयाति ॥४३॥

विग्भस्मरहितं भाल विग्ग्रामशिवालयम् ।

विगनीशार्चनं जन्म विग्विद्यामशिवाश्रयाम् ॥४५॥

ते वै सङ्कर सुकरासुरखरश्वक्रोष्ट्र कीटोपमाः ।

जाता एव भवन्ति पापपरमास्ते नारका. केवलम् ॥४७॥

दे० भा० ५-६

जो भस्म और रुद्राक्ष धारण नहीं करते उनका थोड़ा भी अन्नजल ग्रहण न करे। गृहस्थी, वनी, यति, वर्णी अथवा सङ्कर जाति, इनके यहाँ का भोजन करके पाप खाने वाला होता है और नरक को जाता है। ४३। भस्म रहित मस्तक, शिवालय रहित ग्राम, ईश के अर्चन रहित जन्म, शिवाश्रयहीन विद्या को धिक्कार है। ४५। जो तीनों जगत् के आधार सङ्कर की निन्दा करता है और जो त्रिपुण्ड धारण करने वाले की निन्दा करते हैं उनके दर्शन में दोष है। ४६। वे निश्चय ही वर्णसङ्कर, शूकर असुर, खर, श्वान, गीदड, कीट के समान हैं। वे पापरूप उत्पन्न हुए हैं। केवल नरक में ही जाने को जन्म लिया है।

देवी भागवत शाक्तो का एक मात्र पुराण है। इसने विष्णु तथा विष्णु-अवतार राम, कृष्णादि की निन्दा करने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ी। सबको ही जो भर कर नीचा दिखाया है। अवतारों को पिछले दुष्कर्म तथा शपथों का परिणाम बताया है। शिव और ब्रह्मा की निन्दा तथा निकृष्टता का भी स्थान स्थान पर वर्णन है।

देवी भागवत में एक कथा आती है कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों देवी के दर्शन करने गये। देवी ने तीनों को खी

वना दिया । ब्रह्मा कहते हैं कि हे नारद ! मैंने जो वहाँ देखा सुनो:—

शृणु नारद तत् वक्ष्यामि यद्दृष्टं तत्रचान्द्रुतम् ।  
 नख दर्पण मध्ये वै देव्याञ्चरण पङ्कजे ॥१४॥  
 ब्रह्माण्डमखिल सर्वं तत्र स्थावर जङ्गमम् ।  
 अहं विष्णुश्च रुद्रश्च वायुरग्निर्यमो रविः ॥१५॥  
 वरुणः शीतगुस्त्वष्टा कुवेरः पाकशासनः ।  
 पर्वता सागरा नद्यो गन्धर्वाप्सरगन्तथा ॥१६॥  
 वैकुण्ठो ब्रह्मलोकश्च कैलास पर्वतोत्तम ।  
 सर्वं द्रविल दृष्टं नखमध्यास्थितं च नः ॥१७॥  
 मज्जन्म पङ्कजं तत्र स्थितोऽहं चतुराननः ।  
 शेषशायी जगन्नाथस्तथा च मधुकैटभौ ॥२०॥  
 विष्णुश्च विश्वमाविष्टं शकरश्च तथा स्थितः ।  
 ता तदा मेनिरे देवी वयं विश्वस्य मातरम् ॥२२॥

दे० भा० स्क० ३ अ० ४ (वैष्णवेश्वर प्रेस बम्बई)

देवी के चरण कमल के नख के मध्य में सब स्थावर जङ्गम ब्रह्माण्ड तथा विष्णु, रुद्र, वायु, अग्नि, यम, सूर्य, वरुण, चन्द्रमा, त्वष्टा, कुवेर, पर्वत, सागर, नदी, गन्धर्व, अप्सरा, वैकुण्ठ, ब्रह्मलोक, पर्वतो में उत्तम कैलास, यह सब वस्तु हमने स्थित देखी । ( १४, १५, १६, १७ ) और कमल के मध्य से अपना जन्म तथा कमल पर अपने को स्थित देखा । शेषशायी जगन्नाथ और मधुकैटभ को देखा । २० । विष्णु और शङ्कर भी आश्चर्य में मग्न हुए । तब हम सबने विश्व की माता को पहचाना । २२ ।

तदनन्तर अत्यन्त नम्र तथा दीन भाव से ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव द्वारा देवी की स्तुति का विस्तृत वर्णन है जिसे

विस्तार भय से हम यहाँ उद्धृत नहीं करते ।

विष्णु के अनेक अवतारों का कारण भृगु ऋषि का शाप बताते हुए देवी भागवत में विष्णु को अत्यन्त अपमानित करने का प्रयत्न किया गया है । इन्द्र के कहने पर विष्णु ने अपने सुदर्शन चक्र से भृगु की पत्नी का गिर काट लिया । उसके मरने पर दुःखी हो कर भृगु ने जो शाप दिया, वह निम्नांकित है:—

अकृतं ते कृतं विष्णु जानन् पाप महामते ।

वधोऽयं विप्रजाताया मनसा कर्तुं मक्षमः ॥२॥

तामसस्त्वं कथं जात कृतं कर्मातिनिन्दितम् ।

अवध्या स्त्री त्वया विष्णो हता कतिनिन्दिरागसा ॥४॥

शपामि त्वा दुराचार किमन्यत्प्रकरोमि ते ।

विधुरोऽहं कृतः पाप त्वयाऽय शक्रकारणात् ॥५॥

न शपेऽहं तथा शक्र शपे त्वा मधुसूदन ।

सदा द्यल परोऽसि त्व कीटयोनिदुराशयः ॥६॥

ये च त्वा सात्त्विकं प्राहुस्ते मूर्खा मुनयः किल ।

तामसस्त्वं दुराचारः प्रत्यक्ष मे जनदंन ॥७॥

अवतारा मृत्युलोके सन्तु मच्छापसम्भवा ।

प्रायो गर्भभव दुःख भुक्त्वा पापाज्जनादंन ॥८॥

दे० भा स्क० १४। अ० १२

हे मधुसूदन ! तुमने अत्यन्त वृद्धिमान् होकर भी जान कर ऐसा अकार्य किया । जिस विप्र कन्या का वध मन से भी नहीं विचारा जा सकता उसको तुमने साक्षात् कर डाला । २। हे विष्णु ! तुमने किस लिये तमोगुण-युक्त होकर अतिनिन्दित कर्म किया ? स्त्री जाति अवध्य है । तुमने विना अपराध इस अवला को क्यों मारा ? ४। तुम्हारा यह आचरण अत्यन्त

निन्दित है। इस समय मैं तुम्हारा क्या कहूँ ? तुमको शाप देना ही उचित है। हे पापिष्ठ ! तुमने इन्द्र के कारण मुझको विधुर बना दिया। ५। मैं इन्द्र को शाप न देकर तुमको ही शाप दूँगा। तुम सदा सर्प की भाँति कपट व्यवहार करते हो। तुम दुष्ट हो। ६। जो मुनि तुमको सतीगुणी कहते हैं वे अत्यन्त मूर्ख हैं। तुम तामसी और दुराचारी हो, यह मैंने आज प्रत्यक्ष जान लिया। ६। तुम मेरे शाप से मृत्युलोक में अनेक बार अवतार लगे और गर्भ की यन्त्रणा द्वारा अपने पाप का फल भोगोगे। ८।

इसी पुराण में आगे फिर लिखा है:—

शप्तो हरिस्तु भृगुणा कुपितेन काम मीनो बभूवकमठः खलु सूकर-  
स्तु । पञ्चानृनिह इति यच्छलकृद्धराया तान्सेवता जननि मृत्युभयं न  
किं स्यात् ॥१८॥ दे० भा० स्कं० ५। अ० १६ ॥

हे जननि ! प्रकुपित भृगु मुनि के शाप से ही हरि पृथ्वी में मीन, कूर्म, सूकर, नृसिंह और वचनात्तर वामन इत्यादिक रूप धारण करके अवतीर्ण हुए थे। इसमें उनकी पराधीनता ही है। जो इन पराधीन अवतारों की सेवा करते हैं उनको मृत्यु-भय क्यों न होगा ?

किं चित्रं नृप देवी सा ब्रह्मा विष्णु सुरानपि ।  
नर्तयत्यनिश माया त्रिगुणानपरात् किम् ॥  
गर्भवासोद्भव दुःख विष्णुत्रस्नायु संयुतम् ।  
विष्णोरापादितं सम्यग् यया विगत लीलया ॥  
पुरा रामावतारेऽपि निर्जरा वानराः कृताः ।  
विदित ते तथा विष्णु दुःखपाशेन मोहितः ॥६

दे० भा० स्कं० ४। अ० २०

हे नृपते ! त्रिगुणा माया देवी ब्रह्मा विष्णु इत्यादि देवगणों

को भी नचाती रहती है, वह जो अन्य को मोहित करे तो इस में आश्चर्य ही क्या है ?

हे राजन् ! उस महामाया की लीला तो सिद्ध ही है । अधिक क्या ? उसने विष्णु को भी भली भाँति से मलमूत्र और स्नायु परिपूरित गर्भ में वास कराकर दुःख दिया था । ५ । पूर्व काल में रामावतार के समय उसने देवगणों को वानर बना दिया था । हे राजन् ! इस प्रकार माया पात्र में बँध कर भगवान् विष्णु ने जो दुःख भोगा था वह तुम भलीभाँति जानते हो । ६ ।

इस भाँति इस पुराण में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, राम, कृष्ण, परशुराम, बुद्ध आदि सब ही देव और अवतारों के एक-एक करके दोष गिनाये हैं और उन्हें पापयुक्त सिद्ध किया गया है । हम उन उद्धरणों को विस्तार भय से यहाँ नहीं देते ।

शाक्त भी मस्तक पर भस्म लगाते हैं अतः भस्म न धारण करने वाले का जन्म जन्मान्तर में चाण्डाल होना बताया गया है:-

न यस्य सहरजा प्रीतिर्मंगिवद् भस्मसंग्रहे ।

स चाण्डाल इति ज्ञेयः जन्मजन्मान्तरे ध्रुवम् ॥

दे० भा० १६।१५।१५

ब्रह्मा:—

ब्रह्मा को पुराणों में विशेष महत्त्व नहीं दिया गया और न वैष्णव, शैव तथा शाक्तों के समान ब्रह्मा के नाम से कोई पृथक् नमस्त्रय अथवा पुण्य ही है । कुछ अपवादों को छोड़ कर ब्रह्मा की सृष्टिपूजा का भी इस देश में प्रचलन नहीं है । केवल पुष्कर ही एक तीर्थ न्याय है जहाँ ब्रह्मा का मन्दिर है । ब्रह्मा को बहिष्कृत किये जाने के सम्बन्ध में पद्मपुराण में एक कथा आती है । ब्रह्मा ने पुष्कर में एक यज्ञ किया । यज्ञ में ब्रह्मा

की पत्नी सावित्री के आने में देर होगई । तब इन्द्र ने एक गोप कन्या को लाकर ब्रह्मा का गार्धर्व विवाह करके यज्ञ में बिठला दिया और यज्ञ प्रारम्भ कर दिया । तत्पश्चात् सावित्री भी आगई । ब्रह्मा के इस कृत्य की उसके आलोचना करने पर ब्रह्मा ने कहा कि इसमें मेरा दोष नहीं । यज्ञ में देर हो रही थी, इन्द्र ने इस स्त्री को ला दिया, विष्णु भगवान् ने भी इस का अनुमोदन किया अतः हमने इसे ग्रहण कर लिया । हमारे अपराध को क्षमा करो । तब सावित्री ने शाप दिया कि आज से कीर्तिकी पूर्णिमा के अतिरिक्त तुम्हारी पूजा न होगी :—

नैव ते ब्राह्मण पूजां करिष्यन्ति कदाचन ।

ऋते तु कार्तिकीमेका पूजा सावत्सरी तव ॥

इसी प्रकार शिवपुराण विद्येश्वरी सहिता अध्याय ६ में एक अन्य कथा द्वारा ब्रह्मा की पूजा का निषेध किया गया है । कथा इस प्रकार है कि एक बार ब्रह्मा और विष्णु में अपने महत्त्व पर विवाद चल पडा और दोनों में घोर युद्ध हुआ । देवता उसे शांत कराने के लिए शिव के पास गये । शिव ने आकर दोनों के मध्य एक स्तम्भ को इतना बढ़ाया जो आकाश और पाताल में पूर्ण हो गया । और ब्रह्मा तथा विष्णु से कहा कि तुम दोनों में जो इसका अन्त देख आयगा वही इस जगत् में सब देवों में महान् समझा जायगा । तब वे दोनों सैंकड़ों वर्ष उसका अन्त ढूँढते रहे परन्तु अन्त न पा सके । विष्णु ने आकर सत्य कह दिया कि मुझे इसका अन्त नहीं मिला किन्तु ब्रह्मा ने झूठ बोला कि मुझे इसका अन्त मिल गया । इस पर शिव ने प्रसन्न होकर कहा— विष्णु ने सत्य बोला है अतः जगत् में उनकी मूर्ति की पूजा होगी—

इत. पर ते पृथगगर्चन क्षेत्रप्रतिष्ठोत्सवपूजनं च ।

और ब्रह्मा से कहा—तुमने असत्य भाषण किया है अतः तुम्हारी पूजा नहीं होगी:—

नातन्ते सत्कृतिर्लोके भूयांत्स्थानोत्सवादिकम् ।

ब्रह्मवैवर्त पुराण कृष्ण जन्म खण्ड अ० ३२ में भी इसी आशय की एक कथा दी हुई है, जिसके द्वारा ब्रह्मा को अपूज्य ठहराया गया है। वहाँ लिखा है कि विष्णु की प्रिया मोहनी एक बार कामातुर होकर ब्रह्मा पास गई। ब्रह्मा ने विष्णु की प्रिया होने के कारण इसका निषेध किया तब मोहनी ने ब्रह्मा को शाप दिया कि जाओ तुम्हारी ससार में पूजा न होगी। ब्रह्मा ने विष्णु को जाकर समस्त वृत्तान्त सुनाया। विष्णु ने शाप दूर करने का उपाय गङ्गा स्नान बताया और कहा कि तुम्हारी पृथक् पूजा तो न होगी, किन्तु अन्य देवों के साथ होगी —

यदन्यदेवपूजायां तत्र पूजा भविष्यति ।

उपर्युक्त सभी कथाएँ विचित्र हैं, जिनमें किसी न किसी प्रकार ब्रह्मा के गिर दोष मढ़कर उसकी पूजा का निषेध किया गया है। अन्यथा पुराणों में विष्णु और शिव को कलङ्कित करने वाली कथाओं की ब्रह्मा से कहीं अधिकता है। फिर ब्रह्मा को ही क्यों लक्ष्य बनाया गया है? हमारा विचार है कि श्रम्राह्मणों ने जिनका कि मूर्तिपूजा के प्रचार में विशेष हाथ है, ब्राह्मणत्व के प्रतीक ब्रह्मा को अपमानित करने के लिए ही इन कथाओं की रचना की और उसे अपूज्य ठहराया।

जैसा कि हम पूर्व सिद्ध कर चुके हैं मूर्तिपूजा का जन्म बौद्ध-काल में हुआ और सर्वप्रथम बुद्ध की मूर्ति इस देश में पूजी जाने लगी। भगवान् बुद्ध स्वयं क्षत्रिय वंशज थे और उनका



प्रचार-क्षेत्र भी स्वभावतः ब्राह्मणेतर जातियों में ही रहा । बौद्धों को देखा-देखी बौद्ध धर्म के हास के पश्चात् बुद्ध की मूर्ति का स्थान 'महेश्वर' और 'विष्णु' ने ले लिया । यह दोनों काल्पनिक देव भी ब्राह्मणत्व का प्रतीक न होकर क्षत्रियत्व का ही विशेष रूप से प्रतिनिधित्व करते हैं । सहार और पालन शक्ति क्षत्रियत्व का ही प्रतीक है । शाक्तों की 'शक्ति-पूजा' तो 'क्षात्र-धर्म' प्रधान है ही ।

विष्णु के मुख्यावतार 'राम' तथा 'कृष्ण' जिनकी पूजा का इस समय समस्त देश में प्रचार है और जिन्हें पूर्णवितार माना जाता है, क्षत्रिय वंशज ही थे । समस्त अवनारों में 'परशुराम' ही ब्राह्मण माने जाते हैं, जिनकी कही भी पूजा नहीं होती । अतः ब्राह्मण धर्म के प्रतीक, वेदोपदेष्टा, याज्ञिक ब्रह्मा अथवा उसकी मूर्ति का ब्राह्मणेतर जातियों तथा क्षत्रिय राजाओं की राज्यवृत्ति पर पलने वाले लोलुप ब्राह्मणों द्वारा पुराणों में बहिष्कार करने का प्रयत्न कोई आश्चर्य की बात नहीं है ।

ब्रह्मा वैदिक-ज्ञान का आदि प्रचारक है । यज्ञानुष्ठान के चार ऋत्विजों में 'ब्रह्मा' का मुख्य स्थान है । किन्तु शैव, शाक्त एवं वैष्णव, सम्प्रदायों में वेद के स्थान पर अपने-अपने पुराणों और यज्ञ के स्थान पर अपने-अपने उपास्य देवों की मूर्तियों तथा मठ-मन्दिरों को प्रधानता दी गई है । शाक्त, यज्ञानुष्ठान करते हैं, किन्तु उसमें मास मंदिरों की आहुति तथा पशुबलि के पोषक हैं, जो सर्वथा अवैदिक कर्म हैं ।

पुराणों में ऐसा कथाएँ भी हैं, जिनमें शिव ने यज्ञों का विध्वंस किया । पद्मपुराण सृष्टि खंड अ० १७ में एक कथा आती है कि एक समय ब्रह्मा यज्ञ कर रहे थे । महादेव यज्ञशाला में भिक्षा मागने के लिये पञ्चसूत्र धारण किए तथा एक बड़ी

खोपड़ी हाथ में लिए ऋत्विज के समीप आकर बैठ गये । यह देखकर वेदपाठी ब्राह्मणों ने कहा कि तुम इस प्रकार का निन्दित वेश बनाए यज्ञशाला में कैसे चले आये ? उन्हें यज्ञशाला से निकालने के अनेक प्रयत्न किये गये, किन्तु वह न गये । अन्त में उन्हें भोजन कराकर सन्तुष्ट किया गया । तब कही यह कहकर कि हम पुष्कर स्नान के लिये जा रहे हैं वे वहाँ से टले, किन्तु अपना कपाल वही यज्ञशाला में ही छोड़ गये जिसे ब्राह्मणों ने बाहर फेंक दिया । एक कपाल के फेंके जाने पर दूसरा कपाल वहाँ दिखाई देने लगा । इस प्रकार एक कपाल के फेंके जाने पर वहाँ फिर दूसरा कपाल उपस्थित हो जाता था । और हजार तक फेंके जाने पर भी उनका अन्त नहीं हुआ । विवश होकर ब्राह्मण, ब्रह्मा सहित पुष्कर गये और शिव को बड़ी स्तुति-प्रार्थना करने पर वह कपाल वहाँ से हटा । एक मन्वन्तर बीत जाने पर पुनः ब्रह्मा के यज्ञ में शिवजी आ उपस्थित हुए । इस बार भी वह अपने उसी नग्न वेश में उपस्थेन्द्रिय को हाथ में लिये यज्ञमण्डप में आगये । लोगो ने उन्हें पुनः विवकारा और घसीट कर बाहर कर दिया और कहा कि स्त्रियों की उपस्थिति में तुम्हारा इस प्रकार प्रवेश निन्दनीय है । इस पर क्रुद्ध होकर शिव ने ब्राह्मणों को अनेक शाप दिये ।

एक दूसरी कथा शिव द्वारा अपने श्वसुर राजा दक्ष के यज्ञ विध्वंस की इसी पद्य पुराण सृष्टि खंड अ० ५ में आई है । दक्ष ने अपने यज्ञ में शिव को आमन्त्रित नहीं किया । उसका कारण दक्ष ने जो पार्वती को बताया, वह शिव के आसुरी कापालिक स्वरूप का भली प्रकार दिग्दर्शन कराता है । दक्ष ने कहा—तुम्हारे पति खोपड़ी का पात्र लिये रहते हैं । चर्म ओढ़ते हैं, चित्ता की भस्म लगाते हैं और नगे रहते हैं । श्मशान भूमि में निवास

करते हैं एव व्याघ्र चर्म धारण करते हैं। हाथी का चर्म भी ओढ़ते हैं जिसमें रक्त के बिन्दु टपकते रहते हैं। मरे हुए मनुष्यों के कपालों की माला गले में पहने रहते हैं। इन्हीं अनेक कारणों से हमें लज्जा आती है और उन्हें अन्य देवों के साथ आमन्त्रित करके, उनके साथ विठाने में सकोच होता है।

शिव के इस प्रकार अपमानित होने पर उनके प्रमुख गण वीरभद्र ने अन्य गणों सहित इस यज्ञ को विध्वंस किया। यज्ञ-शाला में आग लगादी देवताओं को मार गिराया, विष्णु से घोर युद्ध हुआ। अन्त में विष्णु परास्त हुए और उनका शिर काट कर यज्ञ कुण्ड में डाल दिया। ऋषि, मुनि इधर-उधर भागने लगे। 'सरस्वती' और 'वेदमाता' की नासिका वीरभद्र ने अपने तीक्ष्ण नखों से उखाड़ ली और प्रजापति का शिर काट कर अग्नि में दग्ध कर दिया इत्यादि। यह विस्तृत कथा शैव सम्प्रदाय की वेद एव यज्ञ विरोधी प्रवृत्ति का भली भाँति चित्रण करती है।

उपर्युक्त दोनों कथाएँ हमारी इस धारणा को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि शैव, वैदिक यज्ञों के विरोधी थे और रामायण काल के राक्षसों की भाँति यज्ञ विध्वंसक ही थे। उनकी प्रचलित शिवलिङ्ग पूजा, जिस पर कि हम आगे इसी अध्याय में पृथक् प्रकाश डालेंगे, वाममार्ग के भैरवी चक्र की स्त्री-पुरुष-गुप्तेन्द्रिय की पूजा की प्रतीक मात्र है। भैरवी चक्र का भैरव भी शिव का एक मुख्य गण है और इस प्रकार इस सम्प्रदाय का शाक्तों के वाममार्ग से निकट का सम्बन्ध है।

वैष्णव यद्यपि मास, मदिरा का घोर विरोध करते हैं तथापि यज्ञ के स्थान पर मूर्तिपूजा का प्रचलन विशेषतः इसी सम्प्रदाय ने किया है। जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं, अवतारवाद तथा

मूर्तिपूजा को प्रोत्साहन वैष्णवों से ही मिला। भागवत को 'पंचम वेद' बताना, वेद व्यास का वेद-शास्त्र सब ही से अतृप्त होकर भागवत रचने की कल्पना तथा कलियुग में तप, योग, समाधि को निष्फल बना कर केवल राम कृष्णादि के नाम मात्र कीर्तन को ही मुक्ति का सरल मार्ग बताना, यह सस्ते क्रिया कलाप वेदमार्ग से विमुक्त करने वाले दुष्प्रयास ही कहे जा सकते हैं :

इस सम्प्रदाय की परस्त्री गमनादि व्यभिचार-पूर्ण प्रवृत्ति इसे भी वाममार्ग के निकट ला खडा करती है। इसके उपास्यदेव भगवान विष्णु का जालन्धर की पतिव्रता स्त्री वृन्दा के सतीत्व नष्ट करने की प्रसिद्ध कथा, कृष्णावतार का कुब्जा दासी के साथ सम्भोग, गोप कन्या राधा के साथ अनुचित प्रम एव सम्भोग तथा अन्य इसी प्रकार की कथाये, जिन पर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं, इस सम्प्रदाय में व्यभिचार को प्रोत्साहन देने को पर्याप्त है। कृष्ण के साथ, उनकी पत्नियों के होते हुए भी, पूजा में राधा को स्थान देना, पर-स्त्री गमन के लिए खुला प्रोत्साहन है। इसके परिणाम स्वरूप पुराणों की दृष्टि में कृष्ण की लीलास्थली व्रज में किया हुआ व्यभिचार व्यभिचार ही नहीं। दक्षिण में इस सम्प्रदाय के सद्गृहस्थों द्वारा अपनी कन्याओं का विष्णुमूर्ति से विवाह करके उन्हें मन्दिरों में गाने बजाने के लिए छोड़ देना, समय समय पर इस सम्प्रदाय के गोस्वामियों, साधु-महन्तों द्वारा अपनी चेलियों के साथ होने वाली दुराचारपूर्ण दुर्घटनायें-वाममार्ग के परस्त्री-गमनादि दुष्कृत्यों की पुनरावृत्ति मात्र ही हैं।

पुरी का जगन्नाथ का मन्दिर इस वाममार्ग प्रवृत्ति का एक जीता जागता उदाहरण है। मन्दिर पर अंकित व्यभिचारपूर्ण

चित्र, समस्त वैष्णवो का एक पंक्ति में उच्छिष्ट पत्तलों पर सखरा दाल भात का बिना किसी भेद भाव के खान-पान वाम-मार्ग का ही रूपान्तर मात्र है। अतः वैष्णव सम्प्रदाय भी वाम-मार्ग के प्रभाव से अछूना नहीं है। ऐसी अवस्था में वेद और यज्ञ के प्रवर्तक ब्रह्मा का, इन सम्प्रदायों द्वारा बहिष्कार करना अस्वाभाविक नहीं है।

वेदादि आर्ष धर्म शास्त्रों में दैनिक पत्र यज्ञों में “देव-यज्ञ” का विशेष महत्त्व है। इसे देव-पूजा भी इसलिये कहा जाता है कि अग्निहोत्र द्वारा आकाशादि पांच भौतिक देवों की पूजा अथवा युद्धि अभिप्रेत है। इसी ‘देव-पूजा’ शब्द का इन सम्प्रदायों द्वारा ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि कल्पित देवों की पूजा अर्थ लगाया जाने लगा और इन ही देवों की मूर्तिपूजा ने कुछ काल में इस देव यज्ञ का स्थान ग्रहण कर लिया। मूर्तिपूजा को प्रोत्साहन देने के लिये यज्ञों का महत्त्व घटना आवश्यक भी था। बालान्तर में जिन यज्ञों का रामायण और महाभारत काल में सर्वत्र प्रचार था, उनका स्थान विभिन्न प्रकार की मूर्तिपूजा, तीर्थ यात्रा आदि ने ले लिया। जहाँ बड़े बड़े अश्वमेधादि यज्ञ होते थे, वहाँ अब केवल मूर्तियों के सन्मुख धूप-दीप मात्र शेष रह गया।

### शिवलिंग पूजा

हमारे देश में जिन देव मूर्तियों की पूजा की जाती है, उनमें शिवलिंग का एक विशेष स्थान है। अन्य देवों अथवा अवतारों की मूर्तियाँ उनके समस्त शरीर के आकार की होती हैं, किन्तु शिवलिंग जैसा कि नाम से ही सुस्पष्ट है, शिव की उपस्थेन्द्रिय की आकृति है। उपस्थेन्द्रिय की पूजा जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं वाममार्ग के भैरवी चक्र की एक मुख्य प्रक्रिया है। अतः यह शिवलिंग पूजा भी उसका ही प्रतीक है।

उचित तो यह था कि देश के विचारशील विद्वान मूर्तिपूजा के इस अश्लील तथा अगिष्ट प्रकार के विरुद्ध आवाज उठाते और इसका प्रचार रोकने का प्रयत्न किया जाता, किन्तु इसके विपरीत इन 'शिवलिंग' शब्द की नवीन व्याख्या द्वारा सत्य को छिपाने का अनुचित प्रयत्न किया जाता है जो कि पुराणों में दी हुई अनेक साक्षियों के भी सर्वथा विपरीत है। इन नवीन व्याख्याताओं का कहना है कि 'लिंग' का अर्थ उपस्थेन्द्रिय न होकर 'चिह्न' है, अतः उनके अनुसार शिवलिंग का अर्थ 'शिव का चिह्न' हुआ। लिंग का अर्थ निश्चय ही 'चिह्न' है इसमें किसी को विवाद नहीं हो सकता। जन्म से लेकर मरण पर्यन्त उपस्थेन्द्रिय ही ऐसा चिह्न है जो स्त्री पुरुष का वर्गीकरण करता है, अतः कालान्तर में लिंग शब्द ही उपस्थेन्द्रिय का पर्यायवाची बन गया। किन्तु प्रश्न तो यह है कि यहाँ पुराणों की सुस्पष्ट कथाओं और और अनेक साक्षियों के होते हुये क्या 'लिंग' शब्द का अर्थ उपस्थेन्द्रिय के अतिरिक्त कुछ और भी हो सकता है? पुराणों से कुछ ऐसी ही साक्षियाँ हम यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं —

शिवपुराण काटि रुद्र संहिता ४, अ० १२ में दारु वन को एक कथा आती है—

दारु नाम वनं श्रेष्ठं तत्रासन्नृपिसत्तमाः ।

शिवभक्ताः मदा नित्यं शिवध्यानपरायणाः ॥६

ते कदाचिद्वने याता समिधाहरणाय च ।

नर्वे द्विजर्षभा शैवाः शिवध्यानपरायणाः ॥७

एतस्मिन्न तरे नाक्षाच्छंफरो नीललोहितः ।

त्रिभुवं च नमाम्याय परीक्षार्यं समागतः ॥८

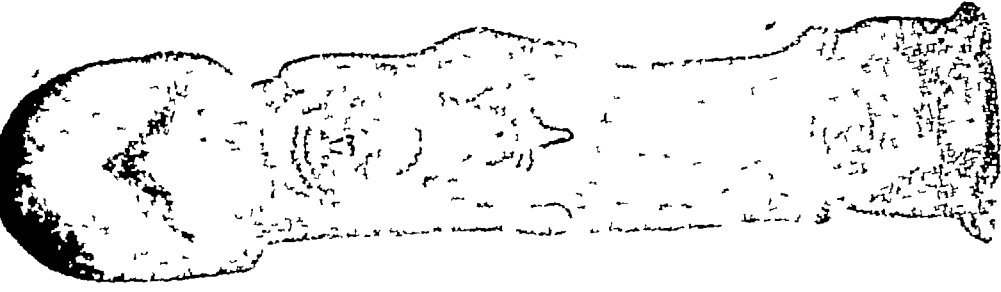
दिग्म्वरोऽति तेवस्वी भूतिभूषणभूपितः ।

स चेष्टा सकदक्षा च हस्ते लिङ्गं विधारयन् ॥१०  
मनसा च प्रिय तेषा कर्तुं वै वनवासिनाम् ।  
जगाम तद्वन प्रीत्या भक्तप्रीतो हर स्वयम् ॥११  
त दृष्ट्वा ऋषिपत्न्यस्ता पर त्रासमुपागता ।  
विह्वला विस्मिताश्चान्या. समाजग्मुस्तथा पुन ॥१२  
अलिनिगुस्तथा चान्या. कर घृत्वा तथा पराः ।  
परस्पर तु सघर्षत्समग्नास्ताः स्त्रियस्तदा ॥१३  
एतस्मिन्नेव समये ऋषिवर्याः समागमन् ।  
विरुद्धं त च ते दृष्ट्वा दु खिताः क्रोधमूर्च्छिता ॥१४  
तदा दुःखमनुप्राप्ता कोऽय कोऽय तथा ब्रुवन् ।  
समस्ता ऋषयस्ते वै शिवमायाविमोहिता ॥१५  
यदा च नोक्तवान् किञ्चित्सोऽवधूतो दिगम्बर. ।  
ऊचुस्त पुरुष भीम तदा ते परमर्षय ॥१६  
त्वया विरुद्धं क्रियते वेदमार्गविलोपि यत् ।  
ततस्त्वदीयं तल्लिग पतता पृथिवीतले ॥१७  
इत्युक्ते तु तदा तैश्च लिग च पतितं क्षणात् ।  
अवधूतस्य तस्याशु शिवस्याद्भुतरूपिण ॥१८  
तल्लिग चाग्निवत्सर्वं यद्दाह पुर स्थितम् ।  
यत्र यत्र च तद्याति तत्र तत्र दहेत्पुनः ॥१९  
पाताले च गत तच्च स्वर्गे चापि तथैव च ।  
भूमौ सर्वत्र तद्यातं न कुत्रापि स्थिर हि नत् ॥२०  
लोकाश्च व्याकुला जाता ऋषयस्तेऽति दु खिता ॥२१  
दु खिताः मिलता शीघ्रं ब्रह्माण शरणं ययुः ॥२२  
मुनीशास्तांस्तदा ब्रह्मा स्वय प्रोवाच वै तदा ॥२३  
आराध्य गिरिजा देवी प्रार्थयन्तु सुरा शिवम् ।  
योनिरूपा भवेच्चेद्वै तदा तत्स्थिरया ब्रजेत् ॥२४

पूजितः परया भक्त्या प्रार्थितः शकंरस्तथा ।  
 सुप्रसन्नस्ततो भूत्वा तानुवाच महेश्वरः ॥४४  
 हे देवा ऋपय सर्वे महच्च श्रगुतादरात् ।  
 योनि रूपेण मल्लिङ्गं घृतं चेत्स्यात्तदा सुखम् ॥४५  
 पार्वती च विना नान्या लिङ्गं धारयितु क्षमा ।  
 तथा घृतं च मल्लिङ्गं द्रुतं शान्तिं गमिष्यति ॥४६  
 प्रमन्ना गिरिजा कृत्वा वृषभध्वजमेव च ।  
 पूर्वोक्तं च त्रिभिः कृत्वा स्थापितं लिङ्गमुत्तमम् ॥४८

दारु नाम का एक वन था, वहाँ पर सत्पुरुष लोग रहते थे, जो गिव के भक्त थे तथा नित्य प्रति शिव का ध्यान किया करते थे । ६ । वे कभी लकड़ियाँ चुनने के लिये सब के सब श्रेष्ठ ब्राह्मण, जो गिव के भक्त तथा शिव का ध्यान करने वाले थे वन में गये । ८ । इनने में साक्षात् महादेव जी विकट रूप धारण कर उनकी परीक्षा के निमित्त आ पहुँचे । ९ । नङ्गें, अति तेजस्वी, विभूति भूषण से गोभायमान, कामियों के समान दुष्ट चेष्टा करते हुए, हाथ में लिंग धारण करके । १० । मन से उन वनवासियों का भला करने के लिये भक्ता पर प्रसन्न होकर गिवजी स्वयं प्रीति से उस वन में गये । ११ । उसको देखकर ऋषि पत्नियों अत्यन्त भयभीत होगई, व्याकुल तथा आश्चर्यान्वित हुई, कई लाट मारई । १२ । कई आलिंगन करने लगीं, कई ने हाथ में धारण कर लिया तथा परस्पर के सङ्घर्ष से वे स्त्रिया मग्न होगई । १३ । इनने में ऋषि आगये और इस प्रकार के विरुद्ध काम को देख कर वे दुःखी हुए । क्रोध से मूर्च्छित होगये । १४ । तब दुःख को प्राप्त हुए कहने लगे—यह कीत है ? वे सबके सब ऋषि गिव की माया से मोहित हो गये । १५ । जब उस नगे अन्धूत ने कुछ भी उत्तर न दिया, तब वे परम ऋषि उस भयङ्कर पुरुष को यो कहने लगे । १६ । तुम जो यह





दक्षिण-भारत

दक्षिण-भारत श्रीराम के कृष्ण मंदिर की त्रि



वेदमार्ग को लोप करने वाला विरुद्ध काम करते हो इसलिये तुम्हारा यह लिंग पृथ्वी पर गिर पड़े । १७ । उनके इस प्रकार कहने पर उस अद्भुत रूपधारी अवधूत शिव का लिंग उसी समय गिर पड़ा । १८ । उस लिंग ने सब कुछ जो आगे आया अग्नि की भांति जला दिया । जहाँ जहाँ वह जाता था वहाँ-वहाँ सब कुछ जला देता था । १९ । वह पाताल में भी गया, वह स्वर्ग भी गया, वह भूमि में सब जगह गया किन्तु वह कहीं भी स्थिर नहीं हुआ । २० । सारे लोक-लोकान्तर व्याकुल होगये तथा वे ऋषि अति दुःखित हुए । २१ । वे दुःखी हुए सब मिल कर ब्रह्मा के पास गये । २२ । तब ब्रह्मा उन ऋषियों को स्वयं कहने लगे । ३१ । हे देवताओं ! पार्वती की आराधना करके शिव को प्रार्थना करो, यदि पार्वती योनि रूप हो जावे तो वह लिंग स्थिरता को प्राप्त हो जावेगा । ३२ । तब उन ऋषियों ने परम भक्ति से शकल को प्रार्थना की । तब अति प्रसन्न होकर शिव उनसे बोले । ४४ । हे देवता और ऋषि लोगो ! आप सब मेरी बात को आदर से सुने । यदि मेरा लिंग योनि रूप से धारण किया जावे तब शान्त हो सकता है । ४५ । मेरे लिंग को पार्वती के बिना और कोई धारण नहीं कर सकता । उससे धारण किया हुआ पूरा लिंग शीघ्र ही शान्त को प्राप्त हो जावेगा । ४६ । पार्वती तथा शिव को प्रसन्न करके पूर्वोक्त विधि के अनुसार वह उत्तम लिंग स्थापित किया गया । ४८ ।

कथा अत्यन्त अश्लील है किन्तु प्रकरणावश देनी ही पड़ी । इस कथा में जिस शिवलिंग तथा योनि का वर्णन है, शिवालयों में स्थापित लिंग और जलहरी उसी की आकृति है । इसी लिंग को शान्त रखने के लिये शिवलिंग पर जलपूर्ण घट रक्खा

जाता है । इन समस्त बातों का शिवपुराण में सविस्तार वर्णन है । इसी प्रकार पद्मपुराण पृष्ठ उत्तर खंड अ० २५५ में लिखा है—  
भृगु ऋषि को आता देखकर कर शिव जी पावती के सग मत्त रहे अतः भृगु ने उन्हें शाप दिया:—

नारीं सगममनोऽनौ यस्मात्सामवमन्यते ।

योनिलिङ्ग स्वरूपं वै तस्मात्तस्य भविष्यति ॥

तुमने स्त्री के सग मत्त रहकर मेरा अपमान किया है, इस लिये तुम्हारा स्वरूप योनीलिङ्ग हो जाय ।

भविष्यपुराण प्रति० ख० ४ अ० १७ में इस सम्बन्ध में एक दूसरी कथा आती है:—

कदाचिद्भवान्त्रिर्गंगाबूले ऽ नुनूयया ॥६७

तस्य भावं नमालोच्य त्रयो देवाः मनातना ।

अनुनूया तस्य पत्नी समागम्य वचोऽब्रुवन् ॥७०

लिङ्गहस्तः स्वयं रद्री विष्णुस्तद्रमवद्वनं ।

त्रया काम ब्रह्मलोपः स्थितस्तस्यावयं गतः ॥७१

मोहितान्तथ ते देवा गृहीत्वा नां बलानदा ।

मैथुनाय नमुद्योग चक्रुर्नायाविमोहिताः ॥७३

तदा क्रुत्वा नती ना वै तान् यथाप मुनिप्रिया ।

महादेवस्त वै तिनं ब्रह्मणोऽस्य महाशिर ॥७४

चरणो वामुदेन्व्य पूजनीया नरेः नदा ।

भविष्यन्ति नुर्ध्वंष्टा द्यामांस्यमुत्तनं ॥७५

इसी भगवान् अत्रि पत्नी पत्नी अनुनूया महिष गंगा के तिनारे रहते थे । ६७ । उनके भाव को देखकर तीनों मनातन देव उगपी पत्नी अनुनूया को यह बात कहने लगे । ७० । हाथ में लिङ्ग लिए हुए महादेव .....ब्रह्मा जी पानचय वेद का लोप करने हुए इन अनुनूया के वश में होकर स्थित

होगये । १७ । मोहित होकर वहाँ वे देवता अनसूया को बलात् पकड कर मैथुन करने के लिये यत्न करने लगे । उस मुनि-पत्नी ने क्रोध मे आकर उन्हें शाप दिया । ७६ । कि महादेव जी का लिङ्ग, ब्रह्मा का सिर और विष्णु के चरण ससार मे पूजे जायेंगे देवताओ ! तुम्हारा उपहास होगा । ७५ ।

इस प्रमाण मे शिर और पैर के साथ लिंग भी शरीर का एक अङ्ग है और उपस्थेन्द्रिय के अतिरिक्त इसका कोई दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता ।

देवी भागवत का एक अन्य प्रमाण भी इसकी पुष्टि करता है. —

शम्भो पपात भुवि लिङ्गमिदं प्रसिद्धम् ।

शापेन तेन च भृगोर्विपिने गतस्य ।

त ये नरा भुवि भजति कपालिन तु ।

तेषां सुखं कथमिहापि परत्र मातः ॥१६

देवी भा० स्कं ५ अ० ६

हे माता ! महादेव के अरण्य मध्यस्थ ऋषियों के आश्रम में गमन करने पर भृगु के शाप से उनका लिङ्ग पृथिवी मे गिरा, यह तो प्रसिद्ध ही है । जो कपाल को धारण करता है, ऐसे शिव को जो लोग भजते हैं, उनको किस प्रकार सुख होगा ?

उपरोक्त सभी उद्धरण यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं कि देश मे जिस शिव लिङ्ग की पूजा होती है, वह शिव तथा पार्वती की उपस्थेन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है । दक्षिण भारत, विहार, बंगाल तथा आसाम के कुछ मन्दिरों मे प्रतिष्ठित शिवलिङ्ग तथा शिव पार्वती की मूर्तियां जिनके चित्र गोरखपुर से निकलने वाले 'कल्याण' के 'शिवाङ्क' मे भी प्रकाशित हुए हैं; और जिनको हमने भी इस पुस्तक मे दिया है, हमारे प्रतिपादित

द्विपय की पृष्टि में अकाट्य प्रमाण है। यह मूर्तियां इस विवाद को मदा के लिये समाप्त कर देती हैं कि यह जिदलिङ्ग, गिव-पार्वती उपस्थेन्द्रिय के सिवाय और कुछ नहीं है और यह घृणित तथा अदलील प्रकार की मूर्तिपूजा विधि वाममार्ग के भैरवी चक्र का अवाञ्छित मात्र है। जहां एक पुरुष को गिव अथवा भैरवी तथा एक स्त्री को देवी वा भैरवी बताकर उनकी उपस्थेन्द्रिय की पूजा की जाती है। आज देश में तंत्र ग्रन्थों का वाममार्ग लोप हो गया है। किन्तु एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक निर्वालग पूजा द्वारा हिन्दू समाज आज भी उसे न केवल जीवित रख रहा है, अपितु अनेक प्रकार से उसका औचित्य सिद्ध करने का दुष्प्रयास भी करता रहता है। इस सोमनाथ के मन्दिर को दश बार नष्ट किया गया, उसका आज भारत सरकार द्वारा जीर्णोद्धार करके उसमें पुनः निर्वालग स्थापित कर दिया गया है। इस पर देश के बड़े-बड़े नेताओं द्वारा ३५ लाख रुपये की आगर बनराशि संग्रह करके व्यय की जा चुकी है और उसके निर्माण में दो करोड़ रुपये व्यय होने का अनुमान है। दुःख है कि हमारे नेताओं का ध्यान नानिदा आदि प्राचीन विश्वविद्यालयों के पुनरुद्धार की ओर न जाकर मत्सर के उपहास का कारण बनने वाली इस निर्वालग-स्थापना की ओर गया, जिनके लिये देश का लाखों रुपये पानी की भीति बरसाया जा रहा है। हमें इन अभागी आर्य शक्ति का दुर्भाग्य ही यह लगने हैं। क्या किसी जाति के नैतिक पतन ही हममें ऐसी कृत्तव्य अवस्था हो सकती है ?

शौरांगिक शक्ति पर हमारा यह सध्याय बहन विस्तृत हो गया है। शक्तिपूजा का उद्देश्य तथा उद्धान इसी काल में हुआ। हमें यह विस्तार बरामान्तिर ही था। हमने जो प्रमाण पुराणों में दिये हैं, वह न केवल कल्पित शौरांगिक देवी का चरित्र

चित्रण ही करते हैं अनितु आर्यजाति की उस समय की साम्प्रदायिक दुरवस्था तथा सामाजिक पतन पर भी विशेष प्रकाश डालते हैं। उनसे हमारे इस विचार की पूर्णतः पुष्टि होती है कि मूर्तिपूजा विभिन्न सम्प्रदायों की भक्ति-भावना के स्थान पर केवल उनकी व्यवसायिक बुद्धि की ही विशेष परिचायक है। उनके मंदिर और मूर्तियाँ, तीर्थस्थान और उनके द्वारा जीवन निर्वाह करने वाले लाखों पडे, पुजारी, साधु-नहन्त इस समस्त व्यावसायिक मशीन के कल पुर्जे हैं।

जिम आर्य जाति ने वेद, शास्त्र, स्मृति जैसे उच्चकोटि के धार्मिक साहित्य को जन्म दिया हो, जहाँ से समस्त ससार ने धर्म एवं नीति का प्रथम पाठ पढा हो, उस जाति का पुराणों के मिथ्या आचार विचारों में फसकर एकेश्वरवाद तथा अष्टांग योग की उच्च शिक्षा के होते हुए अवतारवाद तथा मूर्तिपूजा को अपनाना वास्तव में एक आश्चर्य की बात है। वर्तमान हिन्दू समाज का ईश्वर, उसकी पूजा विधि, तीर्थस्थान, पर्व, जातिभेद, सस्कार, रीति-नीति सब ही पर इस पौराणिक युग की गहरी छाप है। सत्य तो यह है कि इसके अधःपतन का समस्त इतिहास इसी पौराणिक शिक्षा का दुष्परिणाम है।

इस शिक्षा के परिणाम स्वरूप इसने क्या-क्या यातनाये सही, कैसे कष्ट उठाये, कितने अपमानों को सहन किया, इसका दुःखद इतिहास पाठक आगामी अध्यायों में पढेंगे। यह सब होते हुए भी, यह आभासी जाति आज भी उसी शिक्षा से चिपटी हुई है, अज्ञान और स्वार्थ उसके परित्याग में आज भी बाधक है।



## मूर्तिपूजा और मुस्लिमकाल (१)

सातवीं शताब्दी के मध्य में अरब और उसके निकटवर्ती प्रदेश इस्लाम के प्रभाव में आ चुके थे। भारतवर्ष का अरब, ईरान, तुर्किस्तान तथा मिश्र आदि देशों से अति प्राचीन काल से न केवल व्यापारिक किन्तु धार्मिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा है। अतः अरब आदि देशों के निवासियों का यहाँ सदा यातायात बना रहा। यहाँ के निवासी भी इन देशों में जाते रहे और अपने धार्मिक तथा सांस्कृतिक विचारों से उन्हें प्रभावित करते रहे। फलस्वरूप जिस समय यहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार था, यह देश भी बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गये। अरबी भाषा का 'बुद' तथा फारसी का 'बुद' शब्द जिसके अर्थ मूर्ति के हैं, 'बुद' का ही रूपान्तर है। अरबी ग्रन्थों में बौद्धों के लिये 'समीना' 'समीनीन' 'शामनान' आदि अनेकों शब्दों का प्रयोग हुआ है तथा 'बोधिमत्त्व' को 'बोजामफ' लिखा है।

इस्लाम के प्रचार के पश्चात् भी बौद्ध धर्म के चिन्ह अरब प्रदेशों में विद्यमान रहे, इसकी अनेक साधियाँ मिलती हैं। छठी शताब्दी के प्रारम्भिक काल तक बलघ्न में इनका एक धर्मग्रन्थ प्रसिद्ध 'विहार' जिसे अरब ऐतिहासिकों ने 'नौ बहार' लिखा है 'नर-विहार' का ही अपभ्रंश है विद्यमान था, जिसके संक्षेप को उन्होंने दशम विषय व्याख्या की है। उन्हीं के 'प्रभुत' शिषु, जिसे उन्होंने 'बरमत' लिखा है, के वंशज प्रायः



चलकर मुसलमान होगये और अरब के खलीफा हारु रशीद आदि के प्रधान मन्त्री बनते रहे ।

भारतवर्ष मे बौद्ध-धर्म के ह्रास और पौराणिक-धर्म के उत्थान का इन देशो पर भी प्रभाव पडा और अरब मे भी शैव तथा शाक्त धर्म फैल गया । सानवी शती मे चीन यात्री ह्वैनसांग ने अपनी यात्रा मे भारतवर्ष में शिव की पूजा बडी शोघ्रता से बदली हुई देखी और अयोध्या के निकट दुर्गा की मूर्ति के सम्मुख नरबलि की जाती देखी । उसका कहना है कि बुद्ध की मूर्तियों के स्थान पर शिव मूर्तिया स्थापित हो रही थी और बौद्धो को अनेक प्रकार की यत्रणाये देकर निकाला जा रहा था । नर मुण्डो की माला पहिने कापालिको का भी उसने उल्लेख किया है । उसने ईरान, अफगानिस्तान और मध्य एशिया तक में बौद्धो और शैवो को बराबर पाया था । साराश यह है कि जैसे जैसे हमारे देश मे धार्मिक परिवर्तन होते गये, उसके प्रभाव से अरब आदि देश भी अछूते न रहे । अरब मे जिस स्थान पर आज मुसलमानो का कावा है, वह एक शिव मन्दिर का ही अवशेष है और वहाँ 'सगेअसवद' जिसे मुसलमान यात्री आज भी सम्मानपूर्वक चूमते हैं, उस मन्दिर को शिवलिङ्ग मूर्ति ही है, जिसे मुहम्मद साहब ने भी विन्ही कारणो से सुरक्षित रखना ही उचित समझा ।

इन देशो के मुसलमान हो जाने पर भारतवर्ष भी उनके प्रभाव से न बच सका । एक ओर तो यह देश, 'एक ईश्वर', एक धर्म और एक धार्मिक पुस्तक-अल्लाह, इस्लाम और कुरान के नाम पर संगठित हो रहे थे, दूसरी ओर हमारा देश बहुदेवता-वाद, मूर्तिपूजा, विभिन्न सम्प्रदाय और अनेकानेक छोटे छोटे राज्यों में विभाजित होकर अपने प्राचीन वैभव को धूल

में मिला रहा था । फिर भला उसमें ऐसी शक्ति कहाँ थी कि वह इन देगो में बढ़ती हुई इस्लाम की आधी से टक्कर लेता ? जिस समय मुसलमानों का पहिला आक्रमण इस देग पर हुआ, अरब के खलीफा की ओर से एक व्यक्ति 'हज्जाज'—ईराक, ईरान, मकगन तथा त्रिलोचिस्तान का प्रबन्धक था । इस आक्रमण के दो कारण बताये जाते हैं । प्रथम यह कि अरब के एक जहाज को कच्छ के लुटेरों ने लूट लिया था । हज्जाज ने जब सिध के राजा दाहिर से इसका हरजाना माँगा, तो उसने यह उत्तर दिया कि यह स्थान उसकी सीमा से बाहर है, अतः यह माँग अनुचित है । दूसरा यह कि हज्जाज के आधीन देशों के कुछ विद्रोही दाहिर की गरण में रहने लगे थे । हज्जाज ने इन्हें माँगा परन्तु दाहिर इन्हें देने को उद्यत न हुआ ।

लगी । राजा दाहिर घायल होकर गिर गया । उसका शिर काटकर एक भाले पर लगा दिखाया गया, जिसे देख कर समस्त मेना भाग खड़ी हुई । मन्दिर विध्वंस कर दिया गया । इसी ब्राह्मण ने कुछ दक्षिणा प्राप्त करने के लालच में एक गुप्त खजाने का भी पता दिया, जिसमें ४० देगे सोने की थी, जिनमें १७२०० मन सोना भरा था । इसके अतिरिक्त ६००० ठोस मूर्तियाँ सोने की थी, जिनमें सबसे बड़ी मूर्ति का तौल ३० मन था । हीरा, पन्ना, मोती, लाल और माणिक्य इतने थे, जिन्हें कई ऊँटों पर लादा गया । जिस ब्राह्मण और जिन सेनापतियों ने राजा दाहिर से विद्रोह किया था, उन्हें कासिम ने कत्ल करा दिया । तत्पश्चात् उसने असख्य मन्दिरों और मूर्तियों का विध्वंस किया, नगरों और ग्रामों को लूटा, हजारों स्त्री पुरुषों को कत्ल कराया ! प्रत्येक ग्रामों के द्वार पर जाकर वह वहाँ के निवासियों को मुसलमान बनने और धन देने का आदेश देता, देर होने पर कत्ल और लूट करा देता था ।

सिंध का सबसे पहिला इस्लामी इतिहास जो 'चचनामा' के नाम से प्रसिद्ध है कासिम के आक्रमण की इस घटना का एक दूसरे प्रकार से वर्णन करता है । इसके मतानुसार उस समय सिंध में पौराणिक-सम्प्रदायवादियों और बौद्धों के बीच गहरा संघर्ष था । दाहिर का पिता राजा चच, जिसके नाम पर यह इतिहास लिखा गया है, पौराणिक था और उसने बहुत से बौद्ध राजाओं को या तो नष्ट कर दिया था या अपने आधीन कर लिया था । इसके पश्चात् इसका छोटा भाई राजा बना, किंतु यह बौद्ध था, अतः जिन्होंने चच के समय में बौद्धधर्म को तिलाञ्जलि दे दी थी, उन्हें पुनः बौद्ध होने के लिए इसने विवश किया । पौराणिक सम्प्रदायों ने उसे गद्दी से उतार दिया और उसके स्थान पर दाहिर को राजा बनाया । इसी इतिहासकार का

कहना है कि कासिम का स्थान-स्थान पर वीरों ने स्वागत किया और उसे प्रत्येक प्रकार की सुविधा पहुँचाई। सिंध के एक व्यक्ति 'काका' के सम्बन्ध में, जिसे इमने एक सुप्रसिद्ध बुद्धिमान् और नीतिज्ञ बताया है, लिखा है कि जब कुछ प्रतिष्ठित जाट सामन्त इसके पास गए और पूछा कि यदि उसका परामर्श हो तो कासिम की सेना पर रात को छापा मारा जाय ? उसने उत्तर दिया कि यदि तुम ऐसा करते हो तो करो, किंतु सुनो ! हमारे पण्डितों और योगियों ने ज्योतिष द्वारा यह भविष्यवाणी की है कि हमारे देश को एक दिन मुसलमान विजय कर लेंगे। लोग इन की बात नहीं मानते और हानि उठाते हैं। तुम जानते हो कि मैं भद्रा अपने निश्चय पर अटल रहने वाला हूँ। वीरों को पुस्तकों में भी यही भविष्यवाणी की गई है और मेरा भी यही निश्चय है कि वास्तव में ऐसा ही होने वाला है। तत्पश्चात् यह 'काका' मुहम्मद बिन कासिम के पास चला गया और जाट सामन्तों के विचार में उसे सचेत कर दिया। उसने अपनी धार्मिक पुस्तकों की भविष्यवाणी का भी उसमें वर्णन किया। कासिम ने उनका स्वागत किया और उसे अनेक बहुमूल्य पारितोषक भेंट किए। इसी प्रकार राजा दाहिर के बहूत में विरोधी सेना-नायकों ने भी जाहर उमकी आधीनता स्वीकार कर ली। सम्भवतः यह काका वही देवद्वोही आत्मण अथवा पुजारी था, जिसका धर्म-निदानकारों ने कासिम में जा मिलने का उल्लेख किया है। यह है मुसलमानों द्वारा भारत को पराधीन करने वाले प्रथम युद्ध का नैतिक विवरण, जिनके फलस्वरूप लगभग चौदह ली वर्ष अरबीय जमाने पर हमारे बंधन बंध नहीं छीले हुए हैं और जो भी मुसलमानों द्वारा उस देश को मण्ड-मण्ड करने में सफल परिणामों के दृष्टान्त

उपर्युक्त उद्धरणों से सिद्ध है कि इस युद्ध में हमारी पराजय के कारण स्पष्ट रूप से दो हैं और वह राजनैतिक न होकर नितान्त धार्मिक और मानसिक है। पहिला हिन्दुओं का यह विश्वास कि मंदिर की मूर्ति एक चैतन्य देवी शक्ति है और हमारी जय और पराजय उसकी इच्छा पर निर्भर है। यदि वह अप्रसन्न है तो हमारा सब प्रयत्न निष्फल है। झुके का गिर जाना उसकी अप्रसन्नता का सूचक है। दूसरा अपने साहस और पीरूप पर विश्वास न रखकर ज्योतिषियों के हाथ अपने भाग्य को सौंप देना। जिन भविष्यवाणियों का 'काका' ने, जो स्वयं भी ज्योतिषी प्रतीत होता है, उल्लेख किया है वह क्या है ? और कहाँ की हैं ? इसका तो कुछ पता नहीं, किंतु यह निर्विवाद है कि इसमें भी विदेशी आक्रमणकारियों का अवश्य ही हाथ है, जो उस समय के हिन्दुओं के अन्धविश्वासों से लाभ उठाने का पूरा प्रयत्न करते थे। 'काका' जैसे देशद्रोहियों का, जहाँ इतनी साम्प्रदायिक विभिन्नता हो, मिल जाना तो कोई कठिन बात है ही नहीं। इस प्रकार का अर्धविश्वास, आत्म-सशय तथा भीरुता मूर्तिपूजा का स्वाभाविक फल है। जो जाति जडमूर्ति के भय से थर-थर काँपे, वह एक ईश्वर-विश्वासी निर्भीक जाति के सम्मुख कब तक ठहर सकती थी। हिंदू उस समय के विदेशी आक्रमणकारियों से गारोरिक दल में कम हो, यह बात भी नहीं थी। एक प्रसिद्ध इतिहासकार वदाऊनी ने लिखा है :—

“हिन्दुओं के बराबर प्रतापशाली पठान और मुगलों में एक भी जाति विद्यमान नहीं है।” परन्तु फिर भी अनेक धार्मिक और मानसिक रोगों ने जिनका हमने ऊपर उल्लेख किया है, इस जाति को जर्जरित कर रक्खा था। क्या आज भी हम उनसे मुक्त हो सके हैं ? एक अंग्रेज लेखक का यह कथन कि

‘मुहम्मद दिन कासिम के समय से आज तक हिंदू जाति ने न कुछ सीखा है और न कुछ भुलाया है’ सर्वांग में सत्य है ।

एक स्थान पर प्रसिद्ध अरबयात्री अलबरूनी ने लिखा है—  
 “मुहम्मद बिनकासिम ने जब मुल्तान को विजय किया तो उसकी भारी जनसंख्या और समृद्धिवाली होने का कारण वहाँ के प्रसिद्ध देव मन्दिर को पाया । अतः उसने उसे वैसा ही छोड़ दिया । किंतु मूर्ति के गले में एक गाय की हड्डी बाँध दी जिससे यह प्रत्यक्ष हो जाय कि वह इस मूर्ति को किसी श्रद्धा अथवा विश्वास के कारण अछूता नहीं छोड़ रहा है ।” एक दूसरा मुसलमान इतिहासकार उसी मन्दिर के सम्बन्ध में लिखता है कि—“इस प्रकार मुल्तान का यह महान् देव-मन्दिर नगर के विजय होने पर भी सुरक्षित रहा । अरबों के तीनसौ वर्ष के राज्य काल में भी वह जैसा था वैसा बना रहा । अरब वासियों ने इन मन्दिर से आर्थिक और राजनैतिक दोनों लाभ उठाये । राजनैतिक यह कि जब कोई हिंदू राजा मुल्तान पर आक्रमण करने की तैयारी करता तो अरब शासक उसे यह धमकी देकर भयभीत कर देता कि यदि उसने यहाँ आक्रमण किया तो उस मन्दिर को भस्मीभूत कर दिया जायगा । यह नून कर अथ विश्वासी, धर्मभीरु राजा नक जाना । आर्थिक लाभ वह कि समस्त भारत से लोग यहाँ की यात्रा को आनंद और जटावा चढाते थे, जो अरब शासक के राजकीय में ले लिया जाता था ।” अरब यात्रियों का कहना है कि इस मन्दिर में अत्यन्त लंबी सोना था । दो दो सौ अयकियों का तो केवल धमक ही यहाँ बनाने का आना था । देवमूर्ति जो मूर्त देवता की थी, राष्ट्र को बनी हुई थी, चित्तके दोनों नेत्र बंदमूर्त रूपों में थे और शिर पर सोने का मुट्ठा था ।”

इस प्रकार मुसलमानों ने हमारे अंधविश्वास और मूर्खता का पूरा पूरा लाभ उठाया। हमारी देवमूर्तियाँ एक ओर अपने हिंदू भक्तों से अपार धन हरण करने और दूसरी ओर उसे अपने विध्वंसकों के चरणों में अर्पित करने का साधन बनी हुई थी। उनके भक्त पुजारी अपनी स्वायत्तसिद्धि में रत थे। वह अपने व्यवसाय को चलता हुआ देखना चाहते थे। जाति का धन कहाँ जाता है, इसकी उन्हें चिंता नहीं थी। वह उसमें अपना भाग सुरक्षित रखना चाहते थे और वह मुसलमान शासकों से उन्हें मिल ही जाता था। अनेक मुसलमान यात्रियों का कहना है कि मुल्तान के निकटवर्ती हिंदू राजा बड़ी सरलता से इस अरब शासन का अन्त करके धूल में मिला सकते थे, परन्तु मूर्ति-ध्वंस के भय ने उन्हें साहसहीन बना रखा था। मूर्तिपूजा हमारी पराधीनता में कहाँ तक सहायक हुई, यह सत्सत्ता के इतिहास में कोई नवीन बात नहीं है। अनेक देशों को इस अंध विश्वास के लिये घोर प्रायश्चित्त करने पड़े हैं। यह अभाग्यी आर्यजाति इतनी कठोर यातनाएँ सहने पर भी, आज तक इस परम्परागत अंधविश्वास से मुक्त नहीं हुई। सिंध का वह देवी का मन्दिर जो भारत की पराधीनता का सर्वप्रथम प्रतीक है, खडहर रूप में आज भी उपस्थित है। प्रति वर्ष यहाँ एक बड़ा मेला लगता है, जहाँ हजारों हिंदू अब भी उस देवी की पूजा करते हैं, परन्तु राजा दाहिर का नाम जिसने स्वदेश रक्षार्थ अपने प्राणार्पण कर दिये, आज केवल अतीत की वस्तु बन चुका है।

जिस समय का हम यहाँ उल्लेख कर रहे हैं, वह इस देश के घोर अधःपतन का समय था। पौराणिक सम्प्रदायवाद अपने पूर्ण उत्कर्ष पर था, और हिंदू मन्दिर अपार धन-राशि के केन्द्र बने हुए थे। एक अरब लेखक इब्न नदीम ने एक

अन्य लेखक के आधार पर गुजरात के एक मन्दिर के अपार वैभव का उल्लेख करते हुए लिखा है—“गुजरात के राजा वल्लभराय की राजधानी महानगर के देव मंदिर में सोने, चांदी, लोहे, पीतल, हाथीदात और हर प्रकार के बहुमूल्य पाषाण और मणियों की बीस हजार मूर्तियां हैं। उसकी एक मूर्ति बारह हाथ ऊंची स्वर्ण की है जो स्वर्ण के ही सिंहासन पर विराजमान है। यह सिंहासन एक गोलाकार ऊंचे स्वर्ण के भवन में स्थित है। यह भवन स्वच्छ, मोतियों, लाल, हरे, पीले और नीले रंग के जवाहरात में सुसज्जित है। वर्ष में एक बार इसका मेला होता है। राजा स्वयं वहां पैदल आता जाता है। इस मूर्ति के सम्मुख वर्ष में एक दिन बलि दी जाती है और मनुष्य तक उस पर अपनी बलि चढ़ाते हैं।” अतः विदेशी मुसलमानों द्वारा इन मन्दिरों पर आक्रमण का कारण न केवल मूर्ति-ध्वंस द्वारा स्वर्ग प्राप्ति की लालसा ही थी, अपितु इन मन्दिरों का अपार वैभव भी उन्हें यहाँ लूट लाने का एक मुख्य कारण था। जिस छत्र षपट ने पीरगिज्ज नाम्प्रदायिकों ने इसको संग्रह किया था, उसी भाँति यह उनमें अपहरण कर लिया गया। ईश्वर ने विन्मय होने के फलस्वरूप जो जताद्वियों तक मार खाई और सम्मान नहीं दिये, वे प्रथक् रहे।



जवाहरात लूटे । धानेश्वर के आक्रमण मे २ लाख हिन्दुओं को बन्दी बनाकर गजनी लेगया । 'फरिश्ता' लिखता है कि उस समय गजनी हिन्दुओं की सी नगरी प्रतीत होती थी । मदुरा लूट मे उसे ६ ठोस सोने की मूर्तिया मिली जिनके शरीर पर ११ बहुमूल्य रत्न थे । वहा से वह इतने हिन्दू गुलाम बनाकर लेगया था कि गजनी मे उसने एक एक गुलाम को २॥) रुपये को बेचना चाहा परन्तु मोल लेने वाले न मिले । मदुरा को देखकर महमूद ने स्वय कहा था कि हजारो महल विश्वासी के विश्वास की भाँति टूट भाव से खड़े हैं, जो सगमरमर के बने है । यहाँ असख्य हिन्दू मन्दिर है । अनन्त धन खर्च किये बिना नगरी इतनी सुन्दर नही बन सकती । दो सी वर्ष के यत्न और परिश्रम बिना ऐसा नगर निर्माण असम्भव है ।

इसके पश्चात् इसने गुजरात के सुप्रसिद्ध सोमनाथ के मन्दिर पर आक्रमण किया । इस विशाल मन्दिर मे अगणित बहुमूल्य रत्न लगे हुए थे । ४० मन भारी सोने की जजीर में मे एक भारी घण्टा लटक रहा था । उसमे ५ गज ऊची शिव-मूर्ति अधर लटक रही थी, जिसे उसने अपने हाथों से तोडकर असख्य रत्नों का ढेर लूट लिया । उस मूर्ति को गजनी ले गया । उसके टुकडे टुकडे करके एक टुकडा मस्जिद की सीढियो मे और एक अपने महल की सीढियो मे लगा दिया । उसने उस मन्दिर के स्थान पर एक मस्जिद निर्माण करादी, जो अब तक खडी है ।

इससे पूर्व कदाचित ही इस देश ने कभी इतने दुर्दिन देखे हो । सोमनाथ की जिस शिव मूर्ति को महमूद ने अपने हाथो एक गदा से विध्वस किया था वह बिना किसी दृष्ट आधार के

मन्दिर में अधर स्थित थी । शैव लोगों में मूर्ति के इस चमत्कार को बड़े कानूहल की दृष्टि से देखा जाता था और भोली हिन्दू जाति के अन्धविश्वास और तत्कालीन आर्थिक वैभव से मन्दिर के पुजारी और उनके सरक्षक क्षत्रिय राजा पूर्ण लाभ उठाते थे । यह मूर्ति लोहे की बनी हुई थी । मन्दिर में ऊपर नीचे दोनों ओर चुम्बक पत्थर लगा हुआ था जिसके आकर्षण से यह मूर्ति अधर स्थित थी । महमूद गजनवी ने जब इसे तोड़ना चाहा तो पुजारियों ने उसे न तोड़ने की बड़ी अनुनय विनय की और बदले में बहुत धन देने को भी कहा, किन्तु उसने उत्तर दिया कि मैं 'मूर्ति-भक्त' हूँ 'मूर्ति-विक्रेता' नहीं ।

पुजारियों की इस प्रार्थना के दो कारण प्रतीत होते हैं । पहला यह कि उन 'जिवलिङ्ग' के भीतर बहुमूल्य रत्न भरे हुए थे । दूसरा यह कि उसने उनका समस्त चमत्कार जिसके आधार पर उनका यह व्यवसाय चल रहा था, धूल में मिल जाता था ।

उसे इस देश की पराधीनता का मुख्य तथा प्रबल कारण घोषित कर रही है। तत्कालीन भारत की राजनैतिक तथा सामाजिक अवस्था कितनी दयनीय थी, इसका वर्णन अरब का प्रसिद्ध यात्री अलवरूनी जो महमूद के आक्रमण के समय भारत में ही उपस्थित था, निम्न शब्दों में करता है :—

“भारत बहुत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त है। सब राज्य स्वतंत्र हैं और परस्पर युद्ध में प्रवृत्त रहते हैं। ब्राह्मण अपने अधिकारों की रक्षा के लिये इतने व्याकुल हैं और जातिभेद का ऐमा द्वेषभाव फैल रहा है कि वैश्यो और शूद्रो को वेद-पाठ करते देखकर, ब्राह्मण उन पर तलवार लेकर दूट पड़ते हैं। और उन्हें राजकचहरी में उपस्थित करते हैं, जहां उनकी जिह्वा काट ली जाती है। ब्राह्मण सब प्रकार के राज्य-कर से मुक्त हैं। हिंदू वालाएँ सती हो जाती हैं। हिंदू किसी देश को नहीं जाते, किसी जाति को श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखते। वे अपने को और अपनी जाति को सर्वश्रेष्ठ समझते हैं।”

परन्तु अन्त में इन ब्राह्मण और क्षत्रियों को भी अपने इन पापों का फल भोगना पड़ा। वे भी गजनी के बाजारों में दो-दो रुपये को विके।

महमूद गजनवी के लगभग १५० वर्ष पश्चात् १२ वीं शती में मुहम्मद गौरी ने भारत पर आक्रमण किया। पृथ्वीराज ने बढकर उसे परास्त किया और उसे बंदी कर लिया परन्तु कुछ दंड लेकर छोड़ दिया। छ. बार उसने आक्रमण किये और हार कर बंदी हुआ और धन लेकर छोड़ दिया गया। पृथ्वीराज और जयचन्द्र के पारस्परिक युद्ध ने मुहम्मद गौरी को फिर एक बार भारत पर आक्रमण करने का अवसर दिया। जयचन्द्र ने पृथ्वीराज से परास्त होकर मुहम्मद गौरी को भारत पर आक्रमण

करने का निमंत्रण भेजा और पृथ्वीराज के विरुद्ध सहायता देने का वचन दिया। इस वार भी पृथ्वीराज ने डटकर सामना किया। मुहम्मद गौरी की सेना भागने ही को थी कि जयचन्द्र की सेना ने पीछे से आक्रमण कर दिया। पृथ्वीराज पकड़े गये और मुहम्मद गौरी उन्हें बंदी बनाकर अपने साथ ले गया। इस प्रकार हिन्द-स्वाधीनता का दीप मदा के लिये बुझ गया।

इसके दूसरे ही वर्ष मुहम्मद गौरी ने कन्नौज पर आक्रमण कर दिया। जयचन्द्र की सेना में उस समय पचास हजार मुनन्दमान सवार थे। वह युद्ध के समय जयचन्द्र की ही सेना पर उलट पड़े। गौरी की सेना छिन्न-भिन्न हो गई और जयचन्द्र, कुतुबुद्दीन ऐबक के तीर ने घायल होकर घड़े सहित गंगा में गिर कर डूब गया। उसने कन्नौज में १००० मन्दिर विध्वंस किये और ४०० ऊंटों पर सूटा हुआ मोता और चाँदी लादकर अफगानिस्तान ले गया। इस प्रकार जयचन्द्र को भी अपने देशद्रोह का प्रायश्चित्त देने ही वर्ष करना पड़ा।

व्यापारी था किन्तु अब उसमे अपने नवीन धर्म के प्रचार की धुन भी थी। अतः उन्होने अब व्यापार के साथ धीरे-धीरे अपना धर्म प्रचार भी प्रारम्भ कर दिया। यह वह समय था जब पौराणिक साम्प्रदायवाद ने हिंदू जाति को खोखला कर दिया था। वह अपना आत्म विश्वास, शौर्य और साहस सब कुछ खो बैठे थे। निम्न जाति के लोगो के साथ ब्राह्मण-क्षत्रियो का व्यवहार अमानुषिक था। पौराणिक भूलभुलैयो मे यहाँ का प्राचीन सरल तथा सुवोघ धर्म अपना आकर्षण खो चुका था। मुसलमान आक्रमणकारियो द्वारा अपनी उपास्यदेव मूर्तियो तथा मदिरो की दुर्दशा देख कर हिन्दुओ का धार्मिक विश्वास हिल चुका था। अतः इस नवीन धर्म को पैर जमाने के लिये वहाँ की भूमि कुछ प्रतिकूल न थी।

हिन्दू-राज्यशक्ति पारस्परिक गृहयुद्ध से विनष्ट हो रही थी। मुसलमानो के बढ़ते हुये प्रताप को देख कर प्रत्येक राजा उनकी सहायता से लाभ उठाने के लिये उत्सुक था। मुसलमानो को ऊचे-ऊचे राज्यपद मिलने लगे, जिससे लाभ उठाकर उन्होने स्थान-स्थान पर अपनी मस्जिदे बनानी प्रारम्भ कर दी। उनको राज्य की हर प्रकार की सुविधाएँ सहज मे प्राप्त होगई और मुसलमानो ने अपनी बस्तिया वसानी आरम्भ करदी। राज्य की ओर से उन्हे अपने पृथक न्यायालय तक स्थापित करने की अधिकार प्राप्त हो गया और उनके लिये पृथक काजी नियत कर दिये गये। इन हिन्दू राजाओ ने इन विदेशियो के आतिथ्य सत्कार मे कोई कसर न उठा रखी। हिन्दू जाति वैसे ही अपने आतिथ्य के लिये सदा से प्रसिद्ध है। फिर इस समय तो उनकी राजनीति और धर्मनीति का मानो दिवाला ही निकल चुका था। अपने और पराये तक का भेद जानने की शक्ति

विनष्ट हो चुकी थी। मुसलमानों ने इस सुअवसर से पूरा पूरा लाभ उठाया और धीरे धीरे अपना प्रचार कार्य प्रारम्भ कर दिया। पौराणिक-धर्म उनके समक्ष निश्चय ही निर्बल और आकर्षणहीन था, अतः वह उसमें टक्कर लेने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध हुआ।

प्राचीन वैदिक-धर्म की विश्व को आर्य बनाने की विशुद्ध भावना नष्ट हो चुकी थी। पौराणिक-धर्म में विधर्मियों को अपने में मिलाने का विधान नहीं है और यदि हो भी तो जन्म-गत जाति-पाति के गोरखधधे में इन नव आगन्तुकों के लिये हिन्दू समाज में कोई स्थान नहीं है। इस्लाम का एकेस्वरवाद जब पुत्रा निषेध, भ्रातृ-प्रेम तथा समानता के भाव निविवाद रूप से वैदिक-धर्म के परिज्ञान के अभाव में पौराणिक-धर्म पर विशेषता थी फलस्वरूप न केवल निम्न श्रेणी के दलित हिन्दू ही, अपितु दक्षिण के अनेक राजा तक इस्लाम में दीक्षित हो गये। राजा के धर्म परिवर्तन का स्वभावतः प्रजा पर भी प्रभाव पड़ता है, और ऐसा ही हुआ भी। धीरे-धीरे लाखों हिन्दू मुसलमान हो गये। मालावार कोदंगल्लूर का राजा चेरामन पेरुमल जैमोनि को शकाब्रो का पौराणिक विद्वान् नमाधान न कर सके और वह मुसलमान हो गया। उसका नाम अब्दुर्मान् रखा गया और वह शरव को मका की यात्रा पर चला गया। वहाँ में उसने कई प्रचारक मालावार भेजे जिन्होंने ११ मसजिदें बनवाई और इस्लाम का प्रचार किया। राजा शकाब्रो ने नहीं पीटा और ४ वर्ष पश्चात् मर गया।

इस राजा के प्रभाव से वहा इस्लाम का अच्छा प्रचार हुआ । एक अरब यात्री मसूदी ने १० वीं शती में चौल में १० हजार मुसलमानों की वस्ती पाई । इब्न बतूता ने भी खम्भात से मालावार तक सर्वत्र मुसलमानों की अच्छी जन संख्या देखी और उन्हें समृद्धिशाली पाया । गोआ मुसलमानों के अधिकार में था । हिंनोर में भी मुसलमानों का राज्य था और मगलोर में भी ४ हजार मुसलमानों की वसावट थी । सक्षेपत. दक्षिण भारत के समस्त समुद्री तट पर मुसलमानों की वस्तियाँ थी और न केवल मुसलमानों द्वारा किन्तु राजाओं की ओर से बड़ी २ मस्जिदें बनवा दी गई थी ।

नज्दवली ने तेरहवीं शती में मदुरा और त्रिचनापल्ली में बहुत से हिन्दुओं को मुसलमान बनाया । बाबा फखरुद्दीन एक साधु था, पेन्नकोड़ा में रहता था, उसने वहाँ के राजा को मुसलमान बनाया और एक मस्जिद बनवाई । उस समय बोजानगर दक्षिण का एक विशाल राज्य था । राजा की सेना में १०००० ( दस हजार ) मुसलमान सैनिक थे, जिनका राजा बड़ा आदर करता था । राजा ने एक मस्जिद भी बनवा दी थी और कुरान को आदर और सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था ।

मुसलमानों ने हिन्दुओं के अन्ध विश्वास और अज्ञान से भी पूरा लाभ उठाया । उन्होंने धर्म प्रचार में छल, कपट और कूटनीति का यथावसर पूरा उपयोग किया । माल-द्वीप में इस्लाम कैसे फैला ? इस सम्बन्ध में इब्न बतूता ने लिखा है कि यहाँ के निवासी पहिले सब मूर्तिपूजक थे । यहाँ समुद्र की ओर से प्रति मास एक राक्षस आता था । जब वहाँ के निवासी इसे देखते थे तो एक अविवाहित लड़की को शृंगार

करके उमे देव मन्दिर मे छोड आते थे जो समुद्र तट पर स्थित था । परन्तु मराको के एक अरब शैख अबुउल्वर्कात बरवरी मगरवी जो अकस्मात् यहाँ आये हुए थे उनको प्रार्थना और कृपा मे दृष्ट निवासी उससे मुक्त होगये । इस चमत्कार को देखकर वहाँ का राजा शनो और उसकी समस्त प्रजा मुगलमान होगई । यह समुद्र की ओर से आने वाला राक्षस कौन था और उसका उक्त जेख ने कैसे दमन किया यह एक विचित्र रहस्य है । सम्भवतः यह या तो कोई दुष्ट व्यक्ति था जो उन समय मूर्तिपूजा आदि प्रचलित अनेकानेक ग्रन्थ विश्वासो मे लाभ उठाकर वहा की जनता को भयभीत करके एन दुरचारपूर्ण कृत्य मे प्रवृत्त था जिसे इस जेख ने वण मे कर लिया या फिर यह किसी मुसलमान की ही करतूत थी, जिसकी मरणा मे शैख ने लाभ उठाया । इसी प्रकार मद्रास के शतपुत्र के राजा कोयल का एक घटना वर्णित है । राजा कोयल का एन पुत्र मुगलमान होगया था और उसने एक मन्दिर बनवाई था । उसके मुसलमान होने का वर्णन छन्द-



करते थे वे समय पाकर स्वयं वहाँ के राजा बन बैठते थे । इसके अनेक उदाहरण इतिहास में मिलते हैं । कारोमडल के राजा सुन्दर पाण्य के मन्त्री तकीउद्दान का भाई जमालुद्दीन, जो राज्य के लिये प्रति वर्ष दस हजार घोड़े अरब से लाकर विक्रय किया करता था राजा के मरने पर वहाँ का राजा बन बैठा । जमालुद्दीन के हाथ सात हजार बैलो का बोझ सोना और जवाहरात लगे और तकीउद्दीन उसका सहायक नियुक्त हुआ ।

उस समय इस्लाम के प्रचार में एक अन्य उपाय का भी अवलम्बन किया जा रहा था । मुसलमान फकीर हिन्दू वेष में मन्दिरों में रहकर वहाँ की आन्तरिक दशा का अध्ययन करते थे और उनकी सूचना अपने प्रचारकों और मुस्लिम शासकों को देते रहते थे, जो समय पर उनसे पूरा लाभ उठाते थे । इन्वत्ता का कहना है कि चन्दापुर के निकट एक मन्दिर में उसकी भेट एक जोगी से हुई जो वास्तव में एक मुसलमान सूफी था और केवल सकेत से बातचीत करता था । फारसी का प्रसिद्ध कवि शेख सादी सोमनाथ के मन्दिर में कुछ समय हिन्दू साधु बन कर रह गया था । इसी प्रकार समस्त देश में मुसलमान साधु बड़ी सरलता और शान्ति से पौराणिक धर्म की दुर्बलता से लाभ उठाकर अपने सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे थे । ११६७ ई० में शेख मुईनुद्दीन चिश्तीने अजमेर के मन्दिर के महन्त रामदेव और योगीराज अजयपाल को मुसलमान बनाया । इसी मठ के सूफियों ने आगे चलकर इस्लाम के प्रचार का बड़ा कार्य किया । दक्षिण में सद्गुद्दीन ने खोजा सम्प्रदाय को जन्म दिया जो आज कट्टर मुसलमान हैं ।

उत्तर-पश्चिम में लाखों हिन्दू जहाँ तलवार के जोर से मुसलमान बनाये गए वहाँ कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने पौराणिक

मतमनास्तरों और विशेष कर मूर्तिपूजा से असंतुष्ट होकर भी इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया । बलाजरी, एक अरब इतिहासकार, जो नवी यताब्दि में हुआ है, लिखता है कि काश्मीर, काबुल, और मुलतान के बीच आसीफान (आसीवान) के राजा का एक नाडला पुत्र बहुत बीमार हुआ । राजा ने मन्दिर के पुजारियों को बुलाकर उनकी जीवन रक्षा के लिये देवता से प्रार्थना करने को कहा । पुजारियों ने आकर दूसरे दिन कहा कि प्रार्थना की गई और देवताओं ने उसे जीवन-दान देने की कृपा की है । परन्तु राजा का पुत्र थोड़ी ही देर पीछे मर गया । राजा को बड़ा दुःख हुआ । उसने उन्ही समय जाकर मन्दिर विध्वंस करा दिया । पुजारियों के गिर काट लिये गये । राजा ने नगर में जो मुसलमान व्यापारी थे उन्हें बुलाकर उनसे इस्लाम के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर की और मुसलमान होगया ।

चमत्कारो के आधार पर देश को सहस्रों वर्षों तक लूटा गया, न जाने इन मूर्तियों की दैवी शक्ति उस समय जब मुसलमानों ने उन्हें खण्ड-खण्ड करके मस्जिदों की सीढियों तक में लगाया, कहीं विलुप्त हो गई ! आज भी वही मूर्तियाँ हर प्रकार के चमत्कारों से शून्य हैं ।

मूर्तिपूजा और उसके कुपरिणामों का चित्रण जो कुछ तत्कालीन अरब यात्रियों और विद्वान् लेखकों ने किया है और जो अब भी उपलब्ध है उसे संक्षेप में हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

डबनदीम ने अनेक प्रकार की मूर्तियों और उनकी आकृतियों का वर्णन किया है । यहाँ उसने काली के चार हाथ, नीला रङ्ग, दाँत निकले हुए, पीठ पर हाथों की खाल जिससे खून की बूंदें टपकती हैं, शिर पर खोपड़ियों का ताज और उन्हीं की गले में माला देखी । सूर्य की मूर्ति का वर्णन करते हुए वह लिखता है कि एक गाड़ी में चार घोड़े जुते हैं, एक पर मूर्ति है । उसके भक्त उसको दण्डवत् करते हैं, चारों ओर घूमते हैं, धूप जलाते हैं और वाजा बजाते हैं । मन्दिर से बहुत सी जायदाद लगी है और बहुत से पुजारी हैं जो इस मन्दिर और जायदाद का प्रबन्ध करते हैं । चन्द्रमा की मूर्ति का रथ चार बतों (हसों) वाला बताया है । मूर्ति के हाथ में एक बहुत बड़ा लाल होता है, जिसे चन्द्रकेतु कहते हैं । शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी को इसकी पूजा होती है । गङ्गा के माहात्म्य का भी इसने वर्णन किया है ।

दूसरा लेखक मुत्कल्लिम महतर (दशम शताब्दि) महादेव, काली, महाकाली और लिङ्ग पूजा का वर्णन करता है । इसने अग्निहोत्री और योगियों का भी अपनी पुस्तक में उल्लेख किया है । ब्राह्मणों के सम्बन्ध में लिखा है कि ये गाय की पूजा करते हैं, गगा से पार जाना पाप समझते हैं और किसी दूसरे

को अपने धर्म में नहीं लेते। एक अन्य लेखक अब्दुलकरीम शहरस्तानी ने वृक्षों की पूजा का भी उल्लेख किया है।

इन अरब यात्रियों ने देवमन्दिरों में 'देवदासी' प्रथा का बड़ी घृणा के साथ वर्णन किया है। मूर्तियों के सम्मुख मन्दिरों में अपना जीवन बलिदान करने वाले भक्तों का उन्होंने बड़ा रोमांचकारी चित्र खींचा है। गंगा में डूबकर जान देना तो साधारण बात लिखी है। अबूजैद सैराफी कहता है—“इन लोगों का आवागमन पर इतना विश्वास है कि अग्नि में जीवित भस्म हो जाना इनके लिये साधारण बात है। जब कोई अपने आपको भस्म करना चाहता है तो राजा की आज्ञा लेता है। बाजारों में घूमता है, भाँभ बजाई जाती है। एक फूलों का मुकुट जिसमें अग्नि रक्खी होती है उसके सिर पर पहनाते हैं। और वह इस प्रकार धीरे-धीरे जलता हुआ पूर्व से प्रज्वलित की हुई अग्नि में कूदकर भस्म हो जाता है।” एक दूसरे व्यक्ति का एक छुरी द्वारा अपना हृदय अपने हाथ से बाहर निकाल कर अपना बलिदान करने का भी इसने वर्णन किया है। एक तीसरे व्यक्ति का मुल्तान के मन्दिर में अपने शरीर पर तैल और रुई लपेट कर जलने और अपनी बलि देने का रोमांचकारी दृश्य चित्रित किया है।

मूर्तिपूजा का अधविश्वास, इस आर्यजाति को कहाँ से कहाँ ले पहुँचा, इसकी साक्षी में दिये गए उपर्युक्त उद्धरण से अधिक और क्या कहा जा सकता है? साम्प्रदायिक अन्धविश्वास के उन्माद में मनुष्य क्या नहीं कर सकता, इसके जीते-जागते उदाहरण और क्या हो सकते हैं?

जिन अरब यात्रियों के उद्धरण हमने ऊपर दिए हैं उनसे तथा इसी प्रकार अन्य विवरणों से मूर्तिपूजा के इतिहास पर एक और प्रकाश पड़ता है इन यात्रियों ने, जिनका समय प्रायः ६वीं

शताब्दि से लेकर ११ वी शताब्दि तक आंका जाता है, हिन्दुओं के जिन विभिन्न धार्मिक विश्वासो तथा प्रचलित मूर्तियों का उल्लेख किया है उनमें विष्णु की मूर्ति अथवा वैष्णव सम्प्रदाय के आधारभूत अवतारवाद के सिद्धान्तों का कही विशेष वर्णन नहीं है । इससे सिद्ध है कि वैष्णव सम्प्रदाय और उसके अवतारवाद का जन्म, शैव तथा शाक्त सम्प्रदायों से कही पीछे का है । अथवा उस समय उसका पश्चिमोत्तर भारत में विशेष प्रचार नहीं था । कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि उस समय का सूर्य देवता ही आगे चलकर विष्णु बन गया क्योंकि वेद मंत्रों में सूर्य के लिये भी अनेक स्थानों पर 'विष्णु' शब्द का प्रयोग हुआ है । विष्णु पुराण अध्याय १५ अंश प्रथम में सूर्य के द्वादश नामों में प्रथम नाम 'विष्णु' लिखा है ।

तत्र विष्णुश्च शुक्रश्च जज्ञाते पुनरेव च ।

अर्य्यमा चैव धाता च त्वष्टा पूषा तथैव च ॥१३१

विवस्वान् सविता चैव मित्रो वरुण एव च ।

अशो भगश्चादितिजा आदित्या द्वादश स्मृता ॥१३२

विष्णु, शुक्र, अर्य्यमा, धाता, त्वष्टा, पूषा, विवास्वान्, सविता, मित्र, वरुण, अश और भग ये द्वादश नाम सूर्य के हैं ।



---

अन्य प्रमाणों के लिये प० शिवशंकर काव्यतीर्थ कृत "त्रिदेव-निर्णय" पुस्तक देखिये ।

## सूतिपूजा और मुस्लिमकाल (२)

मुहम्मदगौरी के आक्रमण के पश्चात् दिल्ली पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। यहाँ तीन सौ वर्ष से अधिक समय तक पठानो ने राज्य किया। उन्होने भी अग्रणीत तीर्थ और मन्दिर विध्वंस किये। बिना राजाजा प्राप्त किये कोई तीर्थयात्रा नही कर सकता था। मुस्लिम धर्म विधान के अनुसार प्रत्येक हिन्दू से जजिया लिया जाता था। कुतुबुद्दीन ऐबक ने हाँसी, दिल्ली, मेरठ, कोयल, रणथम्भौर, अजमेर, ग्वालियर, कालिंजर पर आक्रमण किये। हजारो मन्दिरों को विध्वंस किया और लाखों हिन्दुओं को तलवार के घाट उतार दिया।

कुतुबुद्दीन के गुलाम मुहम्मद इब्नेवख्तियार ने बिहार और वङ्गाल पर चढाई की। मार्ग मे विश्वनाथ महादेव की सुरक्षित नगरी मे हजारो मन्दिरों को विध्वंस किया। बिहार के एक वीर्य विद्यापीठ और पुस्तकालय को जिसमे १२ सहस्र भिक्षु रहते थे जलाकर भस्म कर दिया और समस्त भिक्षुओं के शिर उडा दिये गये। कुछ दिनो पश्चात् अलतमश ने उज्जैन पर आक्रमण किया और महाकाल के मन्दिर को विध्वंस कर करोडो की सम्पत्ति लूटली। इस प्रकार तीनसौ वर्ष तक हिन्दुओं का विनाश होता रहा।

इन्ही पठानो के राज्यकाल मे अफगानिस्तान से तैमूर ने इस देश पर आक्रमण किया। उसने अपने सैनिकों को बुलाकर

कहा—“आप जानते हैं कि हिन्दुस्तान के आदमी मूर्तिपूजक हैं और मूर्त्य की पूजा करने वाले काफिर हैं। खुदा और रसूलेखुदा की आज्ञा है कि ऐसे काफिरो को कत्ल करो। मेरा विचार हिन्दुस्तान पर जहाद की चढ़ाई करने का है। इस पर सब लोग ‘आमीन अल्लाह’ चिल्ला उठे और १३८६ ई० में उसने भारत पर आक्रमण किया। यह जहा हो कर जाता नगरो ग्रामो को लूटता, उनमे आग लगाता, निरपराध नर-नारियो को कत्ल करता और बन्दी बनाता था। भटनेर में उसने एक घन्टे मे दश सहस्र हिन्दुओ को मरवा डाला। दिल्ली पहुँचते-पहुँचते उसके पास दो लाख बन्दी होगये। अतः उसने आज्ञा दी कि पन्द्रह वर्ष से अधिक आयु वाले स्त्री-पुरुष कैदी कत्ल करा दिये जायं। ऐसा ही किया गया। रक्त की नदी बहने लगी। पाच दिन तक देहली में लूट, नर हत्या, सतीत्व नाश का अखण्ड राज्य रहा। लाखों हिन्दू मार डाले गये। दिल्ली से मेरठ पर आक्रमण किया और पचास हजार स्त्री-पुरुष कत्ल कर दिये और असख्य जवान स्त्री बच्चे बन्दी बना लिये गये। प्रत्येक सैनिक के पास बीस से सौ तक कैदी आये। यहा से वह हरिद्वार गया। वहा एक पर्व था, यात्रियों की बडी भीड थी। मेले में उसने कत्ले आम की आज्ञा देदी। गङ्गा का जल रक्त से लाल हो गया। मन्दिरो की क्या दुर्दशा हुई होगी इसका पाठक स्वय अनुमान लगाले। वह लूटमार करके काबुल लौट गया। वह यहा से इतना धन ले गया कि ८ वर्ष तक उसकी सेना को समय से पूर्व ही वेतन प्राप्त हो जाता था।

अब समस्त उत्तर-पश्चिमी भारत मुसलमानो के आधीन था। हिन्दू जाति नष्टप्राय हो चुकी थी। उसमे प्रतिरोध शक्ति का सर्वथा अभाव था। जहा एक-एक सैनिक जिस जाति के

सौ-सौ मनुष्यों को बन्दी बना कर अपने वश में रख सकता हो, क्या उसे मनुष्य कहा जा सकता है ? सौ तो भेड़ बकरी भी एक व्यक्ति के वश में सरलता से नहीं रह सकती ।

एक समय आया कि पठान राज्य भी नष्ट हुआ और इस देश के विधाता मुगल बने । अकबर, जहांगीर और शाहजहा के राज्यकाल में इस्लामी मदान्धता में कुछ कमी आ गई । इन्होंने हिन्दू मुसलमानों के साथ समान व्यवहार करने का प्रयत्न किया । इनका राज्य विस्तार भी सुदूर दक्षिण को छोड़ कर समस्त भारत में हो चुका था । किन्तु फिर भी राज्य व्यवस्था में बहुत कुछ मुस्लिम विधान का दौरा दौरा था । यह सब कुछ होते हुये भी यह समय बहुत अशो में शान्ति का समय था । इस काल में भी हिन्दुओं को धार्मिक स्वतन्त्रता थी यह नहीं कहा जा सकता । क्योंकि राज्याधिकारी प्रायः मुसलमान ही थे और प्रत्येक मुसलमान धर्म प्रचार अपना कर्तव्य समझता है, अतः हिन्दुओं के प्रति धार्मिक सहिष्णुता की उनसे आशा रखना व्यर्थ था । हिन्दुओं की दशा पूर्व से कुछ अच्छी थी किन्तु फिर भी दास दास ही है ।

शाहजहाँ को बन्दी बनाकर औरङ्गजेब दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ । यह कट्टर मुसलमान था और हिन्दुओं को घृणा की दृष्टि से देखता था । काशी पहुँच कर उसने पण्डितों को आज्ञा दी कि सब प्रकार का पठन पाठन बन्द कर दिया जाय । प्रसिद्ध प्रसिद्ध मन्दिरों को तुड़वाकर उसने मस्जिदें बना दी । विश्वनाथ महादेव की मूर्ति को पुजारियों ने तोड़े जाने के भय से एक कुएँ में डाल दिया । इस समय भी मन्दिर के स्थान पर मस्जिद खड़ी है । मथुरा में भी उसने यही किया और हजारों हिन्दुओं



को कत्ल कर दिया । औरङ्गजेव की बनाई मस्जिद आज भी ठीक मथुरा के बीचो बीच विद्यमान है । इसने प्रत्येक प्रान्त के शासक को आज्ञा पत्र भेजा कि समस्त मन्दिर ढहा दिये जाँय, मूर्तियाँ तोड़ दी जाय, और पाठशालाये बन्द करदी जाय । कुरुक्षेत्र के मेले मे जाकर लाखो हिन्दुओं को इसने अकारण ही कत्ल कर दिया । हिन्दुओ से इसने जजिया लेना भी फिर से प्रारम्भ कर दिया । इस तरह कुछ समय की शान्ति के पश्चात् हिन्दुओ का पुनः विनाश होने लगा ।

औरङ्गजेव के अत्याचार से फिर एक वार हिन्दू क्षुब्ध हो गये और लगभग पाँच सौ वर्षों तक घोर अत्याचार सहन करने के पश्चात् मुस्लिम शक्ति के विरुद्ध उठ खड़े हुये । पजाब में गुरु गोविन्दसिंह और दक्षिण मे शिवाजी ने सैनिक शक्ति संगठित करके औरङ्गजेव का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया । अन्त मे औरङ्गजेव बुढ़ा होकर लडते-लडते दक्षिण मे मर गया । और इस प्रकार मुगल साम्राज्य भी विनाश की ओर अग्रसर होने लगा ।

औरङ्गजेव के उत्तराधिकारियो ने प्रजा को सन्तुष्ट करने की चेष्टा की किन्तु सब विफल हुई । सिक्खो ने पश्चिमोत्तर भारत पर अधिकार कर लिया । मध्य और दक्षिण भारत में राजपूत और मराठो ने अपना आधिपत्य जमा लिया और मुगल राज्य केवल दिल्ली के इर्द गिर्द ही रह गया । हिन्दुओ को फिर एक वार सङ्गठित होकर स्वाधीन होने का अवसर मिला किन्तु इनकी आन्तरिक विभिन्नताये जिनसे वे आज भी मुक्त नहीं है, इनके मार्ग मे चट्टान बन कर आ खड़ी हुई और वे जहा के तहाँ ही रह गये ।

सातवी शताब्दि के प्रारम्भ से लेकर सत्तरहवी शताब्दि

के अन्त तक का सक्षिप्त लोमहर्षी इतिहास, मूर्तिपूजा द्वारा उत्पन्न हमारी मानसिक दुर्बलता और इसी दुर्बलता के कु-परिणामस्वरूप हिन्दू जाति के सामाजिक और राष्ट्रीय अधः-पतन का भलीभाँति दिग्दर्शन कराता है ।

पन्दरहवी शताब्दि तक योरुप मे भी मूर्तिपूजा प्रचलित थी । वहाँ के ईसाई रोमन कैथोलिक मूर्ति पूजक थे, और पोप और मोङ्को की ठीक वही अवस्था थी जो कि यहाँ महन्तो और पुजारियो की । योरुप की घोर दुरवस्था थी । नवी शताब्दि में अरब के मुसलमानों ने समस्त योरुप को रौद डाला और एक वार वहाँ भी गिरजों का विध्वंस किया गया । लाखों ईसाई तलवार के घाट उतार दिये गये । किन्तु योरुप मे सोलहवी शताब्दि में एक महान् धार्मिक क्रान्ति हुई । मार्टिन लूथर ने प्रोटस्टैण्ट ईसाई धर्म को जन्म दिया, जिससे ईसाई धर्म की मूर्तिपूजा, पोप और महन्तो के दुष्कर्म सभी भस्म हो गये । योरुप के वर्तमान उत्थान का सूत्रपात इसी समय से प्रारम्भ होता है । सत्य तो यह है कि जो जाति ईश्वर से विमुख होकर मूर्ति आदि जड जगत् को अपना उपास्यदेव मान बैठती है उसे सदा इसी प्रकार अन्धकार में पड़कर घोर यातनाये सहनी पडती है । हिन्दू जाति इसका ज्वलन्त उदाहरण है । इस मूर्तिपूजा का उसे कितना भारी मूल्य चुकाना पड़ा । वार वार हिन्दू मन्दिरों को विध्वंस किया गया, मूर्तियाँ तोड़ी गईं, और उन्हें मस्जिदों और महलो की सीढियों तक में लगाया गया । तीर्थ स्थानों का असंख्य धन लूटा गया, करोड़ों निरपराध हिन्दुओं को उसके लिए अपना जीवन तक देना पड़ा । परन्तु फिर भी पुराने मन्दिरों के स्थानों पर नये मन्दिर बना दिये गये । टूटी हुई मूर्तियों के स्थान पर नवीन

मूर्तियों की प्राण-प्रतिष्ठा कर दी गई। उजड़े तीर्थ-स्थान पुनः बसा दिए गए। क्या मूर्तिपूजा में वास्तव में ऐसा ही आकर्षण है? क्या इसमें इतनी आध्यत्म शान्ति है कि उसके बिना इस जाति का कार्य चल ही नहीं सकता? सत्य तो यह है कि इनमें से इसमें एक भी बात नहीं है। इन सब की तरह में वही व्यवसाय वृद्धि कार्य कर रही है जो एक व्यापारी को बार बार हानि उठाने पर भी अपने कारोबार को नये सिरे से करने के लिये प्रेरित करती रहती है।

इन मूर्तियों के बल पर मन्दिर और मन्दिरों के बल पर तीर्थ स्थान अपना व्यापार चला रहे हैं। इनसे महन्तों को लाखों की आय है। पुजारियों को वेतन और खाने को मोहन भोग मिलते हैं। पण्डों के यात्रियों के आगमन से पौ बारह हैं। व्यापारियों की यात्रियों के द्वारा क्रय विक्रय से दुकान चलती है और राज्य को कर की आय है। यात्रा से लौट कर बड़े-बड़े ब्रह्म भोज, दान दक्षिणा सभी इस मूर्तिपूजा की देन है। फिर बताइये उसे जीवित न रखा जाय तो क्यों न रखा जाय? इसीलिये यह चक्र लभग पन्द्रह सौ वर्ष से यहां निरन्तर चल रहा है।

हिन्दू जाति की इस दुर्दशा को देखकर, मुस्लिम काल में, अनेक सन्तों ने इस मूर्तिपूजा के विरुद्ध आवाज उठाई। पंजाब में गुरु नानक ने हिन्दुओं को इस अन्ध-विश्वास से मुक्त करने का भारी प्रयत्न किया। इनके पश्चात् अनेक सिक्ख गुरु भी मूर्तिपूजा की उसी प्रकार आलोचना करते रहे। गुरुओं की वाणी को गुरु ग्रंथ साहब में संग्रह किया गया है। हम उसके मूर्तिपूजा विषयक कुछ स्थल अगले पृष्ठ पर देते हैं:—

पाथर ले पूजहि मुगध गवार ।

ओहिजा अपि डूवे तुम कहा तरन हार ॥

बुत पूज पूज हिन्दू मुये तुरक मुये सिरुनाई ।

आह ले जारे ओह ले गाडे तेरी गति दुहु न पाई ॥

पूजि शिला तीरथ बनवासा ।

भरमत डोलत भये उदासा ॥

घरमहि ठाकुर नदरि न आवै ।

गलमहि पाहणु लै लटकावै ॥

जिस पाहन कउ ठाकुरु कहता ।

ओह पाहणु लै उस कउ डुवता ॥

गुनहिगार लूण हरामी । पाहणनाव न पार गिरामी ॥

गुरु गोविन्दसिंह जी दशम ग्रंथ में मूर्तिपूजा का खण्डन करते हुए लिखते हैं:—

१—इक विनु सौन चिनार ।

भंजन गडन समर्थ सदा प्रभु जानत है करतार ॥

कहा भयो जो अति हित चितकर वहु विधि शिला पुजाई ।

पान थके पाहन कहि परसत कछुकर सिद्ध न आई ॥

अछत धूप दीप अरपत है पाहन कछु न खइ है ।

ता मे कहां सिद्ध है रे जड़ तोहि कछु वर देहै ॥

जो जिअ होत देत कछु तुहि मन वचन कर्म विचार ।

केवल एक शरण स्वामी विन यो नही कतहि उधार ॥

२—काह लै पाहन पूजि घरयो सिरकाहूँ लै लिंग गरे लटकयो ।

काहूँ लखयो हरि आवाची दिशा महि काहु पछाह को शीश

निवायो ॥

कोऊ बुताने को पूजद है पसु कोऊ मृतान को पूजन घायो ।

क्रूर किया उरभयो सब ही जग श्री भगवान को भेद न पायो ॥

गुरु ग्रन्थ साहब में भक्त कबीर की वाणी का भी संग्रह किया गया है। कबीर साहब ने बड़े कड़े शब्दों मूर्तिपूजा की आलोचना की है। उन्होंने अपनी साखियों में लिखा है:—

१—पाती तोरे मालिनी पाती पाती जीऊ ।  
जिस पाहन को पाती तारै सो पाहन निरजीऊ ॥  
पापाए गढि के मूरति कीनी देकै छाती पाउ ।  
जे एह मूरति साची है तउ गढनहारे खाउ ॥  
भावु पहिति अरु लापसी करकरा कासारु ।  
भोगन हारे भोगिया इसु मूरति के मुख छारु ॥

२—जो पाथरु को कहते देव । ताकी वृथा होवे सेव ॥  
जो पाथरु की पाई पाय । तिसकी थाल अंजाई जाय ॥  
अन्तरि देव न जानै अन्वु । अम का मोहिआ पावै फन्धु ॥  
न पाथर वोलै ना किछु देई । फोकट कर्म निष्फल है सेव ॥  
जो मृतक को चन्दन चढावै । उसते कहहु कवनि फल पावै ॥  
जो मृतक को विण्टा माहि रुलाई । ता मृतक क्या घटि जाई ॥  
कहत कबीर हो कहहहुँ पुकार । समझ देख साकत गवार ॥

३—देवी देव पुजहि डोलहि पारब्रह्म न जाना ।  
कहत कबीर अकलु नहि चेतिया विपया सिउ लिपटाना ॥

४—पाथर पूजे हरि मिले तो हम पूजें पहार ।  
या पाथर से चक्की भली जो पीस खाई संसार ॥

दादू कबीर के शिष्य थे। इन्होंने भी कबीर की भांति मूर्तिपूजा की आलोचना की और उसका विरोध किया। दादू कहते हैं—

पत्थर पीवे घोई कै पत्थर पूजै प्रान ।  
अन्तकाल पत्थर भये भव डूवे अज्ञान ॥

एक और प्रसिद्ध सन्त मलूकदास अकबर के समय में हुए हैं। उन्होंने भी मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा आदि का खण्डन किया।

सत्यनामी सम्प्रदाय के सस्थापक वीरभान दादू के समकालीन थे। उन्होंने सत्य-नामियों के “आदि-उपदेश” में ‘१२ हुकम’ दिए हैं जिनमें पहिले हुकम में वे लिखते हैं —

‘केवल एक ही ईश्वर को मानो। मिट्टी, पत्थर, लकड़ी या और किसी बनी हुई चीज की पूजा न करो।’ इसी प्रकार अपने आठवें हुकम में उन्होंने लिखा है कि किसी मूर्ति के सामने सिर मत झुकाओ।

औरगजेब के समय में प्राणनाथ एक गुजराती सन्त हुए हैं। इन्होंने भी मूर्तिपूजा का विरोध किया।

एक अन्य सन्त चरनदास भी मूर्तिपूजा के विरोधी थे। रामसनेही सम्प्रदाय के सस्थापक रामचरन ने भी मूर्तिपूजा की आलोचना की है।

सन्त नामदेव के गुरु खेचर ने नामदेव को जो उपदेश दिया उससे सिद्ध है कि वे भी मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने कहा है:—

पत्थर का देवता कभी नहीं बोलता, तो फिर वह हमारे इस जीवन के दुःखों को कैसे दूर कर सकता है? पत्थर की मूर्ति को लोग ईश्वर समझ बैठते हैं, किन्तु सच्चा ईश्वर बिल्कुल दूसरा ही है। यदि पत्थर का देवता हमारी इच्छायें पूरी कर सकता तो गिराने पर वह टूट क्यों जाता? जो लोग पत्थर के बने हुए देवता की पूजा करते हैं वे अपनी मूर्खता से सब कुछ खो बैठते हैं। जो लोग यह कहते हैं और जो यह सुनते हैं कि पत्थर का देवता अपने भक्तों से बातचीत करता है, वे दोनों मूर्ख हैं। भक्त रैदास ने भी अपने उपदेशों में मूर्तिपूजा और अवतारवाद का विरोध किया है।

महाराष्ट्र प्रान्त मे तीन प्रसिद्ध सन्त हुए है । सन्त तुकाराम, समर्थगुरु रामदास तथा सन्त ज्ञानेश्वर । इन सन्तो ने भी मूर्ति-पूजा और अवतारवाद का पर्याप्त खण्डन किया है ।

सन्त तुकाराम मूर्तिपूजा के सम्बन्ध मे बड़े दुःख से कहते है —

ज्याने देहासि निर्मिले, जीव त्याने वसरले ।  
ज्याच्चा सत्तेने वर्तती, मूढ त्याने न जाणति ।  
जैसे गर्भान्ध जन्मंती, आपूल्या मातेला नेणति ।  
तैसे नेणूनी चेतन, पूजिदगड अचेतन ।

जिस प्रभु ने कृपा करके जीव के लिये मनुष्य देह को बनाया, जीव ने उस प्रभु को भी बिसार दिया । जिस प्रभु की सत्ता से ही प्राणीमात्र अपना व्यवहार कर रहे है मूढ़ लोग उस प्रभु को नही देख सकते । वैसे अज्ञानी लोग चेतन प्रभु को न जानकर अचेतन पत्थर आदि की पूजा करते है । सन्त तुकाराम आगे फिर लिखते है .—

ज्यांला टाकिने फोड्ति, त्याच्या पुढे हाथ जोड्ती ।  
ज्याच्या शोच कूप घडविती, त्याला देव ठरविति ॥  
पूजा उपचार अर्पिती, अत्यादरे नमस्करिती ।  
परीतो एके बोले न पाहे, मूढ त्यांसी मानि ताहे ॥

अर्थात् वे मूर्तिपूजक मूर्ति बनाते समय इस पत्थर को हथौडे से घड़ते तथा फोडते हैं, फिर उसी मूर्ति के सामने हाथ जोड़ते है । जिस पत्थर को भगवान् कह कर उसकी पूजा उपचार करते है, उसके आगे बड़े आदर से हाथ जोडते है । कितने आश्चर्य की बात है कि वह पत्थर न तो सुनता है, न बोलता है और न देखता है किन्तु मूढ़ लोग उसे ही परमेश्वर मान रहे है ।

सन्त तुकाराम ने मूर्तिपूजा की आधुनिकता का वर्णन निम्न शब्दों में किया है :—

दगड़ाचे देव पूर्वी नन्हते जाणु, जनहे अज्ञान भाले जेन्हा ।

जनहे अज्ञानी दगड़ा मानिले, गुरुसिं त्यागले मूढ पणे ॥

हे मनुष्यो ! तुम यह निश्चय समझो कि प्राचीन समय में पत्थरो के देव नहीं हुआ करते थे । जब लोग अज्ञानी बन गए उन अज्ञानी लोगो ने पत्थरों को मानना प्रारम्भ कर दिया और अपनी मूर्खता से सच्चे गुरु को त्याग दिया । पाँच चेतन मूर्तियों की पूजा ही सच्ची मूर्तिपूजा है । इसका उल्लेख उन्होंने निम्न शब्दों में किया है :—

माता पिता आचार्य अतिथि गुरु सचेतन मूर्ति ।

त्याला शरण तू जावसी, तरी च कल्याण पावसी ॥

हे जीव ! माता, पिता, आचार्य, अतिथि और गुरु यही पाँच चेतन मूर्तियाँ हैं । इनकी ही यदि तू शरण में जायगा तभी तेरा कल्याण होगा । सन्त तुकाराम अवतारवाद का भी निम्न शब्दों में खण्डन करते हैं :—

नाही रूप नाही नाव नाही ठाव धराया ।

जेथे जावे तेथे आहे विट्ठल मायवहिन ॥

अर्थात् परमेश्वर ने न तो कोई रूप धारण किया, न ही कोई नाम रखाया और न कही जन्म लिया । वह मेरी सच्ची माता वहिन तो जहाँ जावे वही रम रही हैं । एक स्थान पर भगवान् के गुराओं का वर्णन करते हुए वह कहते हैं :—

ऐसा चेतन निराकार त्यासी कल्पिती आकार ।

परिपूर्ण अविनाश, त्यासी मानिती विनाश ॥

अव्यक्तासी व्यक्ति मानुनी करी स्थूल भक्ति ।

तोचे मूढमति नर, व्यर्थ जन्म ले पामर ॥



मूढ लोग ऐसे चेतन निराकार प्रभु के भी आकार की कल्पना करते हैं। अर्थात् उस निराकार प्रभु को अवतार आदि मानकर उसे साकार बनाते हैं। और जो प्रभु सब में परिपूर्ण और अविनाशी है उसका भी नाश मानते हैं। उस अव्यक्त प्रभु को व्यक्ति मानकर उसके स्थूल आकार अर्थात् मूर्ति आदि की पूजा करते हैं। ससार में ऐसे लोग मूढ और पापमर हैं। उन्होंने व्यर्थ ही जन्म लिया है।

छत्रपति शिवाजी के समर्थ गुरु रातदास अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ दासबोध में ईश्वर को सर्वान्तर्यामी, समभक्त प्राणि-मात्र की सेवा करने और परमेश्वर के पवित्र नाम जप करने को ही ईश्वर की सच्ची भक्ति बताकर आगे लिखते हैं—

सहज सोइनि सायास, हाचि कोणी एक दोष ।  
 आत्मा सोइनि अनात्म्यास ध्यानी धरती ॥  
 परितो धरिता हि धखेना ध्यानि येती व्यक्ति नाना ।  
 उगेचि कष्टविती मना कासा वीस करनी ॥  
 मूर्ति ध्यान धरिता सायासे, तेथे एक चि एक दिसे भासो  
 नये तेचि भासे, विलक्षण ॥

अर्थात् मनुष्यों के अन्दर यही भारी दोष है कि वे परमेश्वर के उपर्युक्त सरल ध्यान को छोड़कर अनात्मा अर्थात् जड़ मूर्ति का ध्यान करने लग जाते हैं। किन्तु वास्तव में मूर्ति के द्वारा परमेश्वर का ध्यान कर ही नहीं पाते ! क्योंकि मूर्ति का ध्यान करते समय इनको अनेक प्रकार की मूर्तियाँ दीखने लगती हैं, जो कि उपासक के मन को डावांडोल कर व्यर्थ ही में उसे उल्टा कष्ट देने का कारण बनती हैं।

उपासक को कष्टसाध्य मूर्ति का ध्यान करते समय कुछ और का और ही दीखने लग जाता है। जिसका उसे समय

भान भी नहीं होना चाहिए वह भी होने लगता है जो कि उपासक के मन को चञ्चल और दुखी बना देता है ।

अवतारवाद के सम्बन्ध में उन्होंने अपने विचारों को निम्न शब्दों में व्यक्त किया है :—

देवदास देहधारी कल्पिते, तेथे नाना विकल्प उठती ।

भाग्ये त्यागने विपत्ति, देह योगे ॥

( दास बोध दशक १४ समास ८ )

अर्थात् मूर्तिपूजकों के सन्मुख जहाँ अन्य बहुत सी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, वहाँ उन्हें परमेश्वर को भी देहधारी कल्पना करना पड़ता है । उस समय उनके मन में अनेक विचार उठने लगते हैं । यदि परमेश्वर ने देह धारण का होगा तो देह योग के कारण वह भोग, त्याग और विपत्ति में भी फँसा होगा । इसी दासबोध में एक स्थल पर लिखा है :—

धातु पापाण मृत्तिका, चित्रलेख काष्ठ रेखा ।

तेथे देव कैचा मूर्खा, भ्रान्ति पडली ॥

हे मूर्ख ! धातु पत्थर मिट्टी चित्र और काष्ठ में परमेश्वर कहाँ है ? तू भ्रम से उनकी पूजा में लगा है ।

सन्त ज्ञानेश्वर ने गीता के ऊपर “ज्ञानेश्वरी” नाम का महाराष्ट्र की “ओवी” नाम को कविता में भाष्य किया है जो कि बहुत ही असिद्ध है । अन्य कई भाषाओं में भी उसका अनुवाद हुआ है । उसमें गीता के—“अवजानन्ति मां मूढा मानुषी तनुमाश्रितम्” इस श्लोक का भाष्य करते समय मूर्तिपूजा आदि के सम्बन्ध में बड़े मुन्दर भावों को दर्शाया है । जिसके कुछ अश निम्न प्रकार हैं :—

जैसा कृत निश्चय वायां गेला, जैसा कोणी काँजी प्याला ।  
मज परिणाम पाहोंला गला अमृताचां, तैसे स्थूलकारी नाशीवंते,  
भरवसा दान्वांनि चित्ते ।

पाहती मज अवि नाशाते, तरी केवा दिसे ।

जैसे कोई काँजी पीकर अमृत का फल प्राप्त करना चाहे उसी प्रकार जो नाशवान् मूर्ति आदि स्थूल पदार्थों में अपने चित्त को उन्हे ईश्वर समझ कर लगाते हैं और उस अविनाशी ईश्वर को देखना चाहते हैं, उनका प्रयास भी विफल ही जाता है । इसी प्रकार आगे अवतारवाद का खण्डन करते हुए सन्त ज्ञानेश्वर ने लिखा है :—

गव आकार एक पुढा देखती, तवं हा देव येणें भावें भजती ।  
मगतोचि विगडलिया टाकती, नाही म्हणोनि ।

यह मूर्तिपूजक जब भी कोई पत्थर आदि का आकार सामने देखते हैं तभी यह परमेश्वर है, ऐसा समझ कर पूजा करने लगते हैं और जब वही आकार किसी प्रकार से विगड जाता है तो ये ईश्वर नहीं है ऐसा कह कर उसे फेंक देते हैं ।

इसी भाँति लिङ्गायत सम्प्रदाय के सन्त वश्वेवर कहा करते थे—एक ईश्वर के सिवाय कोई दूसरा देवता नहीं है । छोड़ो ! छोड़ो ! अन्य देवी देवताओं का विचार करना भी पाप है । एक परमेश्वर के सिवाय अन्य देवों का स्मरण करना व्यभिचार है । एक ईश्वर ही हमारा पूज्य है । जब शरीर ही मन्दिर है तो दूसरे मन्दिर की आवश्यकता क्या है ? कहीं कोई बर्तन देवता है, कहीं कोई वृक्ष देवता है, कहीं गली में पड़ा हुआ पत्थर देवता है । मित्रो, देखो ! इन असह्य देवताओं के कारण कहीं खडे होने को स्थान नहीं रहा । मेरी बात पर विश्वास करो । देवता केवल एक ही है, और वही हमारा सबका परमेश्वर है ।

दक्षिण भारत के सबसे बड़े योगियों में से एक शिवायिकवर हुए हैं । उन्होंने लिखा है :—

नट्ट कल्लै दैव मेन्ऱु वालु पुष्पं सात्तिये,  
 सुत्तिवन्दु मोन मोनेन्ऱु सोल्ल मत्र मेतडा ।  
 नट्ट कल्लम् पेसुमी नाद नुल्लि रुद्धु यिल्,  
 सुट्ट सट्टि सट्टुवम् करिच्चुवै यरि युमी ॥

मंत्र पढते हुए मूर्ति की परिक्रमा करने से क्या लाभ जब परमात्मा स्वयं हमारे अन्दर विद्यमान है ? जिस पात्र में हम भोजन पकाते हैं वह पात्र उस भोजन का स्वाद नहीं जानता । जिस मूर्ति की मनुष्य ने स्थापना की है वह बोलती तक नहीं ।

दक्षिण भारत के एक तामिल आचार्य माणिकवाचर ने मूर्तिपूजा का खण्डन करते हुए लिखा है :—

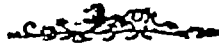
कल्लिळुम् शेमिवलुमो इरुवान एङ्ग लुकण्युतले ।

क्या ईश्वर जो आँख की पुतली की तरह प्रिय है, वह पत्थर अथवा धातु को अपना निवास स्थान बना सकता है ?

मुसलमानों द्वारा मन्दिरों तथा मूर्तियों के निरन्तर विध्वंस के कारण न केवल विवेकी हिन्दू समाज अपितु जनसाधारण भी पौराणिक धर्म के बहु ईश्वरवाद एवं मूर्तिपूजा की निस्सारता का प्रत्यक्ष अनुभव करने लगा था । ऊपर दिये गये सन्तों के उद्धरण उस विचारधारा का जो उस समय देश में वह रही थी, एक सुस्पष्ट प्रमाण है । इन सन्त मतों का भी उस समय देश पर अच्छा प्रभाव पड़ा । सिक्खों के शक्ति संग्रह और महाराष्ट्र के तत्कालीन उत्कर्ष में इनका अच्छा हाथ था । सम्भव है कि उस समय के हिन्दुओं का इतिहास कुछ भिन्न प्रकार से ही लिखा जाता, किन्तु एक हजार वर्ष के मुस्लिम अत्याचारों से पददलित हिन्दू अभी भली प्रकार सँभलने भी न पाया था कि पश्चिम की योरुपीय जातियों का यहाँ पदार्पण हो गया । उनकी कूटनीति ने हिन्दुओं की विखरी हुई शक्ति को पुनः

सङ्गठित होने का अवसर न दिया। कदाचित् हिन्दुओं को अपने अवशेष पापों का फल अभी और भोगना था।

एक बात यह भी थी कि प्रायः यह समस्त सन्त, भक्त और महात्मा उच्च कोटि के विद्वान् न थे। यह प्रायः न केवल प्राचीन वैदिक सस्कृत साहित्य से अनभिज्ञ थे अपितु इनमें से बहुत से तो सस्कृत भाषा भी नहीं जानते थे। इन्हें वैदिक एकेश्वरवाद और उपासना विधि का पूरा ज्ञान नहीं था। इनमें न महात्मा बुद्ध की सी तपस्या थी और न शङ्कर स्वामी जैसा पाण्डित्य था जो भारतीय विचारों को प्रभावित करता। अतः इनका प्रभाव सीमित ही रहा। किंतु फिर भी इन्होंने अपनी शक्ति और सामर्थ्यानुसार उस समय सुधार किया।



## मूर्तिपूजा और वर्तमान सुधाकाल

मुस्लिम सत्ता के पतन और अंग्रेजी राज्य स्थापना के मध्य फिर इस देश में एक बार उथल-पुथल हुई। परन्तु शीघ्र ही शान्ति स्थापित हो गई। अंग्रेजी द्वारा धार्मिक स्वतन्त्रता की घोषणा ने लगभग एक हजार वर्ष के पश्चात् हिन्दुओं को धर्म के विषय में पुनः सोचने समझने का अवसर दिया। योरोपीय जातियों के आगमन के साथ साथ ईसाई पादरियों का भी इस देश में पदार्पण हुआ। मुगल सम्राटों के समय में ही इन्होंने किसी-न-किसी रूप में अपना प्रचार कार्य प्रारम्भ कर दिया था। इनका कार्यक्षेत्र आरम्भ में दक्षिणीय तट पर स्थित प्रान्त ही थे और सर्वत्र हिन्दुओं से पीड़ित असवर्ण जातियाँ ही स्वभावतः उनके प्रभाव में आईं।

अंग्रेजों के राज्यारूढ होते ही योरोप के अनेक ईसाई मिशनरों ने समस्त भारत में अपने प्रचार केन्द्र स्थापित कर दिये। उन्होंने स्थान-स्थान पर मिशन स्कूल खोले, और अंग्रेजी भाषा की शिक्षा के साथ ईसाई धर्म और पश्चिमी सभ्यता में यहाँ के युवकों को दीक्षित करना प्रारम्भ कर दिया। राज्य की ओर से ईसाई-धर्म प्रचार में कोई सीधा सहयोग तो नहीं था, किन्तु मिशन स्कूलों और अस्पतालों को राज्य की ओर से मुक्तहस्त से आर्थिक सहायता दी जाती थी। परिणाम स्वरूप इन शिक्षणालयों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दू शिक्षित समाज धीरे

घोरे ईसाई धर्म से प्रभावित होने लगा । बहुत से युवक ईसाई हो गये और बहुत से ईसाई धर्म की विशेषता और हिन्दू धर्म, जो केवल पौराणिक रूढियों का एक पिजरमात्र था, की हेयता का अनुभव करते थे । पौराणिक धर्म का सबसे निर्बल मर्मस्थान मूर्तिपूजा ही इन पादरियों का प्रहार केन्द्र था ।

वङ्गाल के सुप्रसिद्ध सुधारक राजा राममोहन राय ने इस नई आपत्ति का अनुभव किया और ब्रह्म समाज की स्थापना की । उन्होंने हिन्दू जाति को मूर्तिपूजा के अन्ध विश्वास से निकालने का भरसक प्रयत्न किया । राजा राममोहन राय अरबी, अंग्रेजी और संस्कृत के अच्छे पण्डित थे । उन्होंने अपने लेखों में मूर्तिपूजा का विद्वत्तापूर्ण एवं युक्तियुक्त खण्डन किया है । उनके तत्संबंधी अनेक उद्धरण न देकर हम केवल दो, पाठकों के अवलोकनार्थ उपस्थित करते हैं :—

Many learned Brahmins are perfectly aware of the absurdity of idolatry. and are well informed of the nature of the purer mode of divine worship. But as in the rites, ceremonies, and festivals of idolatry, they find the source of comforts and fortunes, they not only never fail to protect idol worship from all attacks, but even advance and encourage it in the utmost of their power, by keeping the knowledge of their scriptures concealed from the rest of the people. Their followers too, confiding in these leaders, feel gratification in the idea of the Divine Nature residing in a being resembling themselves in birth, shape and propensities; and are naturally delighted with

a mode of worship agreeable to the senses, though destructive of moral principles, and the fruitful parent of prejudice and superstition ”

( Works of Raja Rama Mohan Roy

Vol. I, p. 70 )

बहुत से विद्वान् ब्राह्मण मूर्तिपूजा की निस्सारता तथा ब्रह्मोपासना की अधिक सङ्गत और शुद्ध विधि से भली भांति परिचित हैं परन्तु मूर्तिपूजा सम्बन्धी परिक्रियाये और उत्सव उनके लिये प्रत्येक सुविधा और धन उपार्जन के साधन प्रस्तुत करते हैं। अतः ये न केवल मूर्तिपूजा पर किये गए समस्त आक्षेपो का समाधान करने के लिये सदा तत्पर रहते हैं अपितु उसके प्रचार और प्रोत्साहन में अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। इस कार्य सिद्धि के निमित्त वे धर्म-शास्त्रो को भी सर्व साधारण से छिपाये रखने का प्रयत्न करते हैं। इनके अनुगामी भी उन नेताओं में अन्ध श्रद्धा रखते हैं। वे इस विचार में ही परम सन्तोष का अनुभव करते हैं कि उन जैसे ही प्राणी में जो जन्म, आकृति और गुणों में उनके ही तुल्य हैं, दैवी शक्ति का निवास है और स्वभावतः उस पूजा विधि में ही सन्तुष्ट रहते हैं जो केवल उनको ऐन्द्रिक सुख की उपलब्धि में सहायक है। उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं कि उक्त विधि नैतिक सिद्धांतों के लिये घातक और अनेक प्रकार की रूढ़ियों और अन्धविश्वास की जननी है। राजा राममाहन राय अपनी आत्मकथा में एक स्थान पर लिखते हैं.—

“The ground which I took in all my controversies was not that of opposition to Brahminism but to a



perversion of it, and I endeavoured to show that the idolatry of the Brahmins was contrary to the practice of their ancestors and the principles of the ancient book and authorities which they profess to revere and obey.”

“मैने अपने समस्त विवादो मे ब्राह्मण धर्म का विरोध नही किया, अपितु उसके विपरीत यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि ब्राह्मण धर्म की मूर्तिपूजा, उनके पूर्वजो, प्राचीन धर्म ग्रन्थ एव उन प्रमाणो के विपरीत है, जिन्हे वे अपने लिये मान्य और आदरणीय समझते है।”

राजा राममोहन राय के पश्चात् ब्रह्मसमाज और उसके नेताओ ने बङ्गाल प्रान्त मे अच्छा सुधार कर्य किया । परन्तु राजा राममोहन राय के उत्तराधिकारी ब्रह्मसमाज के नेता नव आगन्तुक ईसाई धर्म और पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से न बच सके । फलतः ब्रह्मसमाज विशुद्ध भारतीय सरकृति का पोषक न रहकर पाश्चात्य सभ्यता के प्रवाह में बह गया और वह बङ्गाल से आगे न बढ सका ।

महामान्य गोविन्द रानाडे के प्रार्थना समाज ने भी महाराष्ट्र मे मूर्तिपूजा के विरुद्ध प्रशसनीय कार्य किया किन्तु उसकी दशा भी बहुत कुछ ब्रह्म समाज की सी ही होकर रह गई ।

वह भी बम्बई प्रान्त के अंग्रेजी शिक्षित समुदाय तक सीमित रहा और आज उसका नाम भी सुनने में नही आता । ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज दोनो ने ही हिन्दू युवको को ईसाई धर्म के बढते हुए प्रभाव से रक्षा करने मे सराहनीय कार्य किया । उसके लिये हिन्दू जाति, इन दोनो महापुरुषो की सदा आभारी रहेगी ।

ठीक इसी समय जब देश धार्मिक तथा सामाजिक क्रांति के तट पर खड़ा था और ईसाई धर्म पाञ्चात्य देशों की सरक्षता में यहाँ अपने पैर फैला रहा था, एक तीसरे महापुरुष ने स्वामी दयानन्द के रूप में पदार्पण किया। इस महान् सुधारक में अन्य सन्त और महात्माओं से जिनका कि हमने ऊपर उल्लेख किया है कई विशेषताएँ थीं। वह विशुद्ध भारतीय संस्कृति का उपासक था। उसकी समस्त शिक्षा-दीक्षा प्राचीन भारतीय शैली पर संस्कृत भाषा द्वारा हुई थी और उसके समस्त विचार भारतीय संस्कृति से श्रोत-प्रोत थे।

स्वामी दयानन्द को किस प्रकार बोध हुआ, यह भी हमारे प्रतिपाद्य विषय से गहरा सम्बन्ध रखता है। उस समय दयानन्द की अवस्था केवल १३ वर्ष की थी। वह अपने पिता के साथ एक शिवालय में शिवरात्रि का जागरण कर रहे थे। पिता तो निद्रा के वशीभूत होकर सो गये किन्तु दयानन्द जागते रहे। वहाँ जो घटना घटी उसका वर्णन स्वयं स्वामी दयानन्द के ही शब्दों में सुनिये:—

“जब मैं मन्दिर में इस प्रकार अकेला जाग रहा था तो घटना उपस्थित हुई। कई चूहे बाहर निकल कर महादेव की पिण्डी के ऊपर दौड़ने लगे। और बीच बीच में महादेव पर जो चावल चढ़ाये गये थे उन्हें भक्षण करने लगे। मैं जागृत रह कर चूहों के इस कार्य को देखने लगा। देखते देखते मेरे मन में आया कि ये क्या है? जिस महादेव की शान्त पवित्र मूर्ति की कथा, जिस महादेव के प्रचण्ड पाशुपतास्त्र की कथा, जिस महादेव के विशाल वृषारोहण की कथा गत दिवस व्रत के वृत्तान्त में सुनी थी, क्या वह महादेव वास्तव में यही हैं? इस प्रकार मैं चिन्ता से विचलित हो उठा

मैंने सोचा कि यदि यथार्थ में यह वही प्रबल प्रतापी, दुर्दान्त दैत्यदलनकारी महादेव है तो यह अपने शरीर पर से इन थोड़े से चूहों को क्यों विताडिन नहीं कर सकता ? इस प्रकार बहुत देर तक चिन्ता-स्रोत में पडकर मेरा मस्तिष्क घूमने लगा । मैं आप ही अपने से पूछने लगा कि जो चलते-फिरते हैं, खाते-पीते हैं, हाथ में त्रिशूल धारण करते हैं, डमरू बजाते हैं, और मनुष्यों को शाप दे सकते हैं, क्या यह वही वृषारूढ़ देवता है जो मेरे सामने उपस्थित है ?”

उपर्युक्त घटना ने इस बालक के मूर्तिपूजा के विश्वास को हिला दिया । उन्होंने अपने पिता को जगाकर उनसे इस शङ्का का सामाधान चाहा । परन्तु सतोषजनक उत्तर न मिलने पर वह उसी समय घर लौट आये, और भ्रत भङ्ग करके भोजन कर लिया । इस साधारण घटना का अन्त यही नहीं होगया, इसने सच्चे शिव को जानने और उसका साक्षात् करने की लालसा को दयानन्द में जागृत कर दिया । और उन्होंने अपने समस्त जीवन को इसी खोज में लगा दिया ।

एक दूसरी घटना ने उनमें महात्मा बुद्ध की भाँति वैराग्य की भावना उत्पन्न करदी, जिसने उन्हें ससार से ही विरक्त कर दिया । उनकी बहिन और चाचा की जिन्हे वह बहुत प्रेम करते थे मृत्यु होगई । दयानन्द कहते हैं —“मैंने सोचा कि ससार की सभी वस्तुएँ अस्थायी और चञ्चल हैं, तब ऐसी वस्तु कौन है जिसके लिये ससार में रह कर सासारिक लोगों के समान जीवन यापन करूं ।” उन्होंने ऐसा ही किया । जब उनकी अवस्था २०-२१ वर्ष की थी ठीक उस समय जब उनके पिता उन्हें विवाह बन्धन में बाँधना चाहते थे, दयानन्द ने सदा के लिये गृह का परित्याग कर दिया, और अपने शेष

जीवन को विद्याभ्यास, योग साधन, समाज सुधार और परोपकार में लगा दिया। उन्होंने विद्वानों और योगियों की खोज में भारत के कोने-कोने को छान डाला। जहाँ भी वह किसी योगी अथवा विद्वान् की उपस्थिति की सूचना पाते वही पहुँचते। इस अन्वेषण में उन्होंने भयानक वनों, पहाड़ों की कन्दराओं और हिमाच्छादित शिखरों की अनेक बार यात्रा की। लगभग १२, १३ वर्ष के तप और स्वाध्याय के पश्चात् दयानन्द का मथुरा के अद्वितीय विद्वान् नेत्रहीन-दण्डी स्वामी विरजानन्द से साक्षात् हुआ। विरजानन्द उस समय अपनी विद्या के लिये समस्त उत्तरी भारत में 'व्याकरण सूर्य' के नाम से प्रसिद्ध थे। जन्मान्ध होते हुए भी उनको अनेक शास्त्र कण्ठ थे। जिस श्लोक को एक बार सुन लेते थे उन्हें विस्मृत नहीं होता था। मथुरा में स्वामी विरजानन्द की एक संस्कृत पाठशाला थी, दयानन्द ने यही रह कर तीन वर्ष तक वेदवेदाङ्ग तथा अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया। और अन्त में दण्डी विरजानन्द से गुरुदीक्षा लेकर अपनी शिक्षा समाप्त की। दयानन्द की अवस्था उस समय लगभग ३६ वर्ष की थी।

यदि दयानन्द का दण्डी विरजानन्द से साक्षात् न होता तो सम्भव था कि वह अपने शेष जीवन को योगाभ्यास और तपश्चर्या में लगा देते। किन्तु इसने दयानन्द के जीवनप्रवाह को ही बदल दिया। गुरुदक्षिणा में दयानन्द से दण्डी स्वामी ने यह एक विलक्षण प्रतिज्ञा चाही कि वह अपना समस्त जीवन आर्ष ग्रन्थों की महिमा स्थापित करने और अनार्ष ग्रन्थों का खंडन करने में लगादे। विरजानन्द अनार्ष पौराणिक मतों के घोर विरोधी थे। किन्तु चक्षुर्विहीन होने के कारण वेद-प्रतिपादित प्राचीन आर्य धर्म का प्रचार करने में स्वयं असमर्थ

थे । अब उन्हें दयानन्द के रूप में एक शिष्य मिल गया जिसके द्वारा वह अपनी इच्छापूर्ति कर सकते थे । दयानन्द ने उनकी आज्ञा के सन्मुख अपना शिर भुका दिया और जीवन के अन्तिम क्षण तक उसे निभाया ।

दयानन्द ने अपनी प्रगाढ़ विद्या और तपोबल से पजाब से बम्बई तक और काठियावाड से बंगाल तक समस्त भारतवर्ष को हिला दिया । दयानन्द जहाँ कहीं गया उसने वहाँ के विद्वानों को वेदों से मूर्तिपूजा सिद्ध करने के लिये आह्वान किया । उसने घूम-घूम कर समस्त देश में सहस्रों व्याख्यान दिये और सैकड़ों शास्त्रार्थ किये । दयानन्द की व्याख्यान शैली इतनी प्रभावोत्पादक और हृदयग्राही थी कि श्रोतागण मन्त्रमुग्ध हो जाते थे । उसका अकाट्य तर्क विपक्षी को नतमस्तक कर देता था । दयानन्द के तर्क और शास्त्रार्थ से घबराकर विरोधियों ने यहाँ तक कहना आरम्भ कर दिया कि दयानन्द को सिद्धि प्राप्त है । उसके सन्मुख जाकर कोई जय-लाभ नहीं कर सकता ।

स्वामी दयानन्द ने मूर्तिपूजा पर अनेक शास्त्रार्थ किये और सस्कृत विद्या के गढ़ काशी को अपने विद्या बल और वाग्मिता से अनेक बार हिला दिया । विपक्षी या तो सन्मुख ही नहीं आते थे और यदि आते थे तो परास्त होकर शास्त्रार्थ को तिलाँजलि दे उड़ड़ण्टा और असभ्य व्यवहार पर उतारू हो जाते थे । किन्तु ऐसे भी अनेक अवसर आये जब सत्यान्वेषी विपक्षी ने अपनी पराजय स्वीकार करली ।

एक बार एक विद्वान् पण्डित ने यह प्रतिज्ञा करके स्वामी दयानन्द से मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ किया कि या तो वह

दयानंद को परास्त करके उनके हाथों अपनी मूर्ति को भोग लगवा देगा या स्वयं पराजित होकर उनका मत ग्रहण कर लेगा। कई दिन तक शास्त्रार्थ होता रहा। अंत में पण्डित ने अपनी पराजय स्वीकार करली और मूर्तियों को गंगा में बहा दिया। स्वामी दयानन्द के मूर्तिपूजा-खण्डन से प्रभावित होकर अनेक स्थानों पर लोगो ने अपनी अपनी देव मूर्तियों को गंगा में प्रवाहित कर दिया। स्वामी दयानंद को अनेक प्रलोभन दिये गये कि यदि वह मूर्तिपूजा का खण्डन न करे तो उनको अमुक मठ की गद्दी दे दी जायगी अथवा उनको समस्त हिन्दू जनता अपना सर्वमान्य नेता स्वीकार कर लेगी। किंतु उनका सदा यही उत्तर रहा कि, “मैं तुम्हारी इच्छा-पूर्ति करूँ अथवा ईश्वरीय आज्ञा का पालन ?” उन पर अनेक बार आक्रमण किये गये, कई बार विष दिया गया, बहुत प्रकार की घमकियाँ दी गईं किंतु उन्होंने मूर्ति-पूजा के खण्डन में कोई समझौता नहीं किया। पादरी के० जे० लूकस ने जिसने स्वामी दयानन्द के व्याख्यान सन् १८७७ ई० में फरुखावाद में सुने थे और उन से भेंट भी की थी, बतलाया कि “वह मूर्ति-पूजा के विरुद्ध इतने बल, इतने स्पष्ट और विश्वास के साथ बोलते थे कि मुझे फरुखावाद की जनता की ओर से उनका हार्दिक स्वागत किये जाने पर आश्चर्य हुआ। मुझे उनका यह कथन स्मरण है कि जब मैंने उनसे कहा कि यदि आपको तोप के मुँह पर रख कर आपसे कहा जाय कि यदि तुम मूर्ति को मस्तक न भुकाओगे तो तुमको तोप से उड़ा दिया जायगा, तो आप क्या कहेंगे ? स्वामी ने उत्तर दिया था कि मैं कहूँगा कि उड़ा दो।” दयानन्द इतने निर्भीक थे कि अनेकों मन्दिरों में ठहरते हुए भी वह वही मूर्तिपूजा की कड़ी आलोचना करते थे।

स्वामी दयानन्द का निश्चित मत था कि मूर्ति पूजा आर्य जाति की समस्त त्रुटियों का केन्द्र है और वह कभी वेद शास्त्र प्रतिपादित नहीं है। अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में उन्होंने मूर्तिपूजा पर अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं—

(१) जब परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है तो किसी एक वस्तु में परमेश्वर की भावना करना, अन्यत्र न करना, यह एक ऐसी बात है कि जैसे चक्रवर्ती राजा को एक राज्य की सत्ता से छुड़ा कर एक छोटी सी भोपड़ी का स्वामी मानना। देखो ! यह एक कितना बड़ा अपमान है, वैसा तुम परमेश्वर का भी अपमान करते हो।

(२) जब व्यापक मानते हो, तो वाटिका से पुष्प-पत्र तोड़ कर क्यों चढाते हो ? चदन घिस कर क्यों लगाते हो ? धूप को जलाकर क्यों देते हो ? घटा घडियाल, भाज, पखावजों को लकड़ी से कूटना-पीटना क्यों करते हो ? वह तुम्हारे शिर में है उसे क्यों नमाते हो ? अन्न जलादि में है फिर क्यों नैवेद्य घरते हो ? जल में है स्नानन क्यों कराते हो ? क्योंकि सब पदार्थों में परमात्मा व्यापक है और तुम व्यापक को उपासना करते हो या व्याप्य की, जो व्यापक की करते हो तो पाषाण, लकड़ी आदि पर चदन पुष्पादि क्यों चढाते हो, और व्याप्य को करते हो तो, “हम ईश्वर की पूजा करते हैं”, ऐसा भूठ क्यों बोलते हो ? “हम पाषाण के पुजारी हैं,” ऐसा सत्य क्यों नहीं बोलते ?

(सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ११) ।

एक दूसरे स्थल पर मूर्तिपूजा के दोषों को उन्होंने निम्न प्रकार गिनाया है :—

(१) साकार मे मन स्थिर कभी नही हो सकता, क्योंकि उसको मन भट ग्रहण करके उसी के एक-एक अवयव मे घूमता और दूसरे मे दौड जाता है। और निराकार परमात्मा के ग्रहण मे यावत् सामर्थ्य मन अत्यन्त दौडता है तो भी अन्त नही पाता। निरवयव होने से चचल भी नही रहता, किन्तु उसी गुण कर्म स्वभाव का विचार करता-करता, आनन्द मे मग्न होकर स्थिर हो जाता है, और साकार मे होता तो सब जगत् का मन स्थिर हो जाता क्योंकि, जगत मे मनुष्य, स्त्री पुत्र, धन, मित्र आदि साकार मे फँसा रहता है, परन्तु किसी मे मन स्थिर नही होता जब तक निराकार में न लगावे, क्योंकि निरवयव होने से उसमे मन स्थिर हो जाता है। इसलिये मूर्तिपूजा करना अधर्म है (२) उसमे करोड़ो रूपये मन्दिरों में व्यय करके दरिद्र होते हैं और उममें प्रमाद होता है। (३) स्त्री-पुरुषों का मन्दिरों मे मेला होने से व्यभिचार, लडाई-बखेड़ा और रोगादि उत्पन्न होते हैं। (४) उसी को धर्म, अर्थ, काम और मुक्ति का साधन मान कर पुरुषार्थ रहित होकर मनुष्य जन्म व्यर्थ गमाता है। (५) नाना प्रकार की विरुद्ध स्वरूप नाम चरित्र युक्त मूर्तियों के पुजारियों का ऐक्यमत नष्ट होकर विरुद्ध मत मे चल कर आपस में फूट वढा कर देश का नाश करते हैं। उसी के भरोसे मे शत्रु का पराजय और अपना विजय मान बैठे रहते हैं। उनका पराजय होकर राज्य स्वातंत्र्य और धन का सुख उनके शत्रुओं के स्वाधीन होता है और आप पराधीन भटियारे के टट्टू और कुम्हार के गदहे के समान शत्रुओं के वश मे होकर अनेक विधि दुःख पाते है। (७) जब कोई किसी को कहे कि हम तेरे बैठने के आसन व नाम पर पत्थर धरें तो जैसे वह उस पर क्रोधित होकर मारता वा गाली



देता है, वैसे ही जो परमेश्वर के उपासना के स्थान, हृदय और नाम पर पाषाणादि मूर्तियाँ धरते हैं, उन दुष्ट बुद्धि वालों का सत्यानाश परमेश्वर क्यो न करे । (८) भ्रान्त होकर मन्दिर मन्दिर देश देगान्तर में घूमते-घूमते दुःख पाते, धर्म ससार और परमार्थ का काम नष्ट करते, चोरादि से पीडित होते, ठगों से ठगाते रहते हैं । (९) दुष्ट पुजारियों को धन देते हैं वे उस धन को वेश्या, परस्त्री गमन, मद्य, मांसाहार, लडार्ड-बखेड़ों में व्यय करते हैं जिससे दाता का सुख का मूल नष्ट होकर दुःख होता है । (१०) माता-पिता आदि माननीयों का अपमान कर पाषाणादि मूर्तियों का मान करके कृतघ्न हो जाते हैं (११) उन मूर्तियों को कोई तोड़ डालता वा चोर ले जाता है तब हा हा करके रोते रहते हैं । (१२) पुजारी परस्त्री के सग और पुजारिन पर पुरुषों के सग से प्रायः दूषित होकर स्त्री पुरुष के प्रेम के आनन्द को हाथ से खो बैठते हैं । (१३) स्वामी सेवक की आज्ञापालन यथावत् न होने से परस्पर विरुद्धभाव होकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं । (१४) जड़ का ध्यान करने वाले का आत्मा भी जड़-बुद्धि हो जाता है क्योकि ध्येय का जडत्व धर्म अन्तःकरण द्वारा आत्मा में अवश्य आता है । (१५) परमेश्वर ने सुगन्धयुक्त पुष्पादि पदार्थ वायु जल के दुर्गन्ध निवारण और आरोग्यता के लिए बनाये हैं, उनको पुजारी जी तोड़ तोड़ कर, न जाने उन पुष्पों की कितने दिन तक सुगन्धि आकाश में चढकर वायु जल की शुद्धि करता है और पूर्ण सुगन्धि के समय तक उसका सुगन्ध होता, उसका नाश मध्य में ही कर देते हैं । पुष्पादि कीच के साथ मिल सडकर उलटा दुर्गन्ध उत्पन्न करते हैं । क्या परमात्मा ने पत्थर पर चढाने के लिए पुष्पादि सुगन्धयुक्त पदार्थ रचे हैं (१६) पत्थर पर चढे हुए पुष्प चदन और अक्षत आदि सबका जल और

मृत्तिका के संयोग होने से मोरी वा कुंड में आकर सड़के इतना उस से दुर्गन्ध आकाश में चढता है कि जितना मनुष्य के मल का और सहस्रो जीव उसमे पड़ते उसी मे मरते और सड़ते है । ऐसे ऐसे अनेक मूर्तिपूजा के करने मे दोष आते है । इसलिये सर्वथा पाषाणादि की मूर्तिपूजा सज्जन लोगो को त्यक्तव्य है । और जिन्होने पाषाणमय मूर्ति की पूजा की है, करते है, और करेगे, वे पूर्वोक्त दोषो से न बचे न बचते हैं और न बचेगे ।

सम्भव है कि उपर्युक्त सूची को देखकर कुछ पाठक स्वामी दयानन्द पर अत्युक्ति का दोषारोपण करे । परन्तु जिन्हे बड़े बड़े तीर्थ स्थानो और उनके देव मन्दिरों को आतरिक अवस्था का परिज्ञान है, वे ऐसा कभी न करेगे । स्वामी दयानन्द ने इस देश के मठ मन्दिरों की आतरिक अवस्था को अपनी आँखो देखा था, अतः मूर्तिपूजा से होने वाली जिन हानियो को उन्होने यहाँ गिनाया है उनमे कोई अत्युक्ति नही है । स्वामी जी ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध इतना कहा और लिखा है कि यदि हम उनका सग्रह करने लगे तो एक स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना हो सकती है, इसलिये हम विस्तार भय से अधिक उद्धरण न देकर पाठको से प्रार्थना करेगे कि जो इस सम्बन्ध मे जानना चाहे वे स्वामी दयानन्द द्वारा स्वरचित ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' मे देखे । उनके अनेक जीवन वृत्तान्तो से भी इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश मिल सकता है ।

इस देश मे स्वामी दयानन्द से पूर्व किसी भी आचार्य ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध इतने खुले ढंग से कभी आन्दोलन नही किया । और न उससे होने वाली हानियो को इतने स्पष्ट रूप मे सर्वसाधारण के सन्मुख रखने का प्रयत्न किया । शकर और

उनके पश्चात् अनेक सन्त महात्माओं ने भी मूर्तिपूजा का खंडन किया किंतु उनमें वह बल और निर्भीकता न थी जिसे हम स्वामी दयानन्द में देखते हैं। सम्भवतः उन्होंने मूर्तिपूजा के विनाशकारी परिणामों पर भली भाँति दृष्टिपात नहीं किया और उसे केवल एक पूजा भेद समझ कर पाप नहीं समझा। परिणाम-स्वरूप उनके स्वर्गारोहण के पश्चात् उनके अनुगामियों ने या तो मूर्तिपूजा से समझौता कर लिया या स्वयं उसे किसी न किसी रूप में अपना लिया।

अशिक्षित हिन्दू आज भी मूर्तिपूजा के उसी प्रपंच में उलझा हुआ है। सुशिक्षित समाज उससे उदासीन है। उनकी दृष्टि में यदि कोई मूर्तिपूजा करता है तो कोई हानि नहीं, यदि नहीं करता तो कोई पाप नहीं। यदि किसी मन्दिर में पहुँच गये अथवा उसके द्वार पर होकर निकले तो मूर्ति को शिर भुका दिया। अन्यथा मूर्तिपूजा से इनका न कोई विशेष सम्पर्क है और न उसमें इनको कोई विशेष आस्था है। यदि किसी मूर्तिपूजक ने मूर्ति को ईश्वर के ध्यान का एक साधन सिद्ध करना चाहा तो उसकी हा में हा मिलादी और किसी ने उसके विरुद्ध कुछ कहा तो उसे भी स्वीकार कर लिया।

‘धर्म किसी जाति वा देश के उत्थान पतन का प्रधान कारण है’ यह एक सार्वभौम सिद्धांत है जिसे आज या कल सभी को मानना पड़ेगा। जो लोग पश्चिमी सभ्यता के भौतिक प्रवाह में बहे जा रहे हैं, वे भूलते हैं। धार्मिक उत्थान के कारण ही यह देश ससार का शिरमौर था और धार्मिक पतन ने ही आज इसको अधोगति के गर्त में ला डाला है।

स्वामी दयानन्द आर्यजाति को इस अधोगति से बाहर निकालना चाहते थे। मूर्तिपूजा, आर्यजाति के पतन का एक मूल कारण है, इस तत्त्व को स्वामी दयानन्द ने भली प्रकार

समझ लिया था। शिवरात्रि का बोध मानो यह सिद्ध करता है कि उनका जन्म ही मूर्तिपूजा के विरुद्ध प्रचार करने के लिये हुआ था। संसार का प्रत्येक महापुरुष अपना एक विशेष सदेश रखता है। स्वामी दयानन्द का, हमारे विचार में यही एक सदेश था।

स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्य समाज इस समय हमारे देश में एक ऐसी जीवित जागृत सस्था है जो मूर्तिपूजा के विरुद्ध प्रसङ्गीय कार्य करती रही है। किंतु उसमें भी कुछ समय से साम्प्रदायिक सहिष्णुता तथा राष्ट्रीय एकता के नाम पर खण्डनात्मक प्रवृत्ति को रोकने की भावना बढ़ती जा रही है। मूर्तिपूजा के विरुद्ध अब उसकी वेदी से कुछ अधिक नहीं कहा जाता। उधर मूर्तिपूजा-पोषक प्रगति अभी अपना कार्य कर ही रही है। ऐसी अवस्था में आर्यसमाज की शिथिल मनोवृत्ति देग और जाति के लिये घातक ही सिद्ध होगी। यदि सहिष्णुता के नाम पर समझौता करने की भूल की गई तो आर्य समाज भी अन्य सम्प्रदायों की भांति "हिन्दू धर्म" कही जाने वाली अस्त व्यस्त विचारधारा में सदा के लिये विलीन हो जायगा।

महात्मा गांधी इस युग के एक अन्य महापुरुष हैं। उनका कार्यक्षेत्र मुख्यतः इस देश की राजनीति रहा, परन्तु फिर भी वह समय-समय पर अपने धार्मिक विचार व्यक्त करते रहते थे। इस देश के अनेक सत-महात्माओं के विचारों से महात्माजी के विचार बहुत कुछ प्रवाहित थे और ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें प्राचीन वैदिक साहित्य के अध्ययन का विशेष अवसर नहीं मिला। उनको अपना संस्कृत भाषा का अल्पज्ञान सदा खटकता रहा, इस नथ्य का उन्होंने अपनी आत्मकथा में दुःख के साथ उल्लेख किया है। सम्भवतः इसी कारण उनके धार्मिक विचार प्रायः अनिश्चित और अस्थिर थे।

महात्मा गांधी की विचार-धारा बहुत से सतों की भाँति, “सब हो धर्म ईश्वर-प्राप्ति के साधन है और ठीक है” रही। अतएव उन्होंने कभी किसी विवादास्पद धार्मिक विषय पर अपनी निर्भीक सम्मति नहीं दी। इस विचार धारा का अनुयायी दे भी नहीं सकता। इस विचार ने हिंदू-जाति के जीवन पर एक घातक प्रभाव डाला है। जब ससार के साधारण धर्म अपने प्रचार की प्रगति से महान् शक्तिशाली बन गये, हिंदू धर्म (वैदिक धर्म) केवल कूपमडूक ही रहा और वह अपने अमर सदेश को दूसरे देशों तक न पहुँचा सका। बौद्धकाल तक यहाँ के प्रचारक अपने धर्म; मस्कृति और सभ्यता की दुन्दुभी विश्व में बजाते रहे। उन्होंने विश्व को आर्य बनाने की वैदिक लोकोक्ति को नहीं भुलाया था।

महात्मा जी स्वयं मूर्तिपूजक नहीं थे। और न उसका उस पर विश्वास था, परंतु वह उसे पाप नहीं समझते थे। जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं, उनके धार्मिक विचार अस्थिर थे और समय समय पर बदलते भी रहते थे। इसे उन्होंने अपने वक्तव्यों और लेखों में स्वयं स्वीकार किया है। मूर्तिपूजा पर उन्होंने अपनी जो अन्तिम सम्मति प्रकट की है, हम अधिक न लिखकर उसे ही लिख देना पर्याप्त समझते हैं। वह लिखते हैं —

“एक भाई ने मुझे अखबार की एक कतरन भेजी है। उसमें खबर है कि मेरे नाम का एक मंदिर बनवाया गया है। और उसमें मेरी मूर्ति की पूजा की जाती है। इसे मैं मूर्तिपूजा का वेढङ्गा रूप समझता हूँ। जिसने यह मंदिर बनवाया है, उसने अपने पैसे बरबाद किये हैं, गाँव के भोले लोगो को गलत रास्ता दिखाया, और मेरे जीवन का गलत खाका खींच कर मेरा अपमान किया। इससे मूर्तिपूजा का अर्थ सिद्ध नहीं होता, उलटे अनर्थ होता है। अपने गुजारे के लिये या स्वराज्य के लिए यज्ञ

के रूप में कातना ही मेरे विचार में सच्ची पूजा है। तोते की तरह गीता के पारायण करने के बदले उसके उपदेशानुसार आचरण करना सच्ची गीता पूजा है। गीतापाठ भी उसी हद तक मुनासिब समझा जायगा जिस हद तक वह गीता के उपदेश के अनुसार आचरण करने में मददगार हो। मनुष्य की कमजोरी का नहीं, बल्कि उसके गुणों का अनुकरण ही उसकी सच्ची पूजा है। जिन्दा आदमी की मूर्ति बनाकर उसकी पूजा करने से हम हिन्दू धर्म को पतन की आखिरी सीमा तक पहुँचा देते हैं। .... सच तो यह है कि अकेला ईश्वर ही मनुष्य के हृदय को जानता है। इसलिये किसी जिन्दा या मरे हुए आदमी को पूजने के बदले जो, पूर्ण है और सत्य स्वरूप है, उस ईश्वर को पूजने और उसी का भजन करने में सुरक्षितता है। यहां यह ख्याल जरूर उठ सकता है कि फोटो रखना भी पूजा का एक प्रकार है या नहीं? फोटो रखने का रिवाज भी खर्चीला तो है मगर उसे निर्दोष समझ कर मैं उसको अब तक बरदाश्त करता आया हूँ। अगर उसकी वजह से मैं प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रीति से मूर्तिपूजा को तनिक भी बढ़ावा देता हूँ तो उसे हास्यास्पद और हानिकारक समझ कर छोड़ दूँगा। मंदिर के मालिक मूर्ति को हटाकर उस मकान में खादी का केन्द्र खोले तो वह सब तरह इष्ट होगा और फिलहाल जो पाप यह कर रहे हैं उससे बच जायेंगे। उस मकान में गरीब लोग मजदूरी के लिये धुने और काते, दूसरे यज्ञ के लिये धुने और काते। सब खादी पहिनने लगे। यही गीता का कर्मयोग है। जीवन में इसका आचरण करने से गीता की और मेरी सच्ची पूजा की जा सकेगी। ऐसी पूजा हानिकारक है और इसलिये छोड़ने लायक है।”

महात्मा जी योरूप के अनेक दिचारकों की भाँति रामायण और महाभारत को ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं मानते थे तथा राम

श्रीर कृष्ण के व्यक्ति विशेष होने पर भी उनका विश्वास नहीं था। अवतारवाद पर जो विचार उन्होंने व्यक्त किये हैं उन्हें यहाँ दे देना असंगत न होगा। महात्मा जो ने अपने गीता-भाष्य में लिखा है —

“गीता के कृष्ण मूर्तिमान् शुद्ध सम्पूर्ण जान है परन्तु काल्पनिक है”। “जो पुरुष अपने युग में सबसे श्रेष्ठ धर्मवान् होता है, उसी को भावी प्रजा अवतार रूप से पूजती है।” इसी प्रकार वह अन्यत्र लिखते हैं—“ईश्वर निश्चित रूप से एक है, वह अद्वितीय है। वह अथाह और अगोचर है। मनुष्यों का अधिक भाग उसको नहीं जान सका। वह सर्वव्यापक है, नेत्रों के बिना देखता और कानों के बिना सुनता है। निराकार, निरवयव है। वह अजन्मा है। उसका कोई पिता, माता या पुत्र नहीं है, तो भी लोग उसे पिता, माता, स्त्री और पुत्र बना कर पूजते हैं। तथापि वह उनमें से कोई वस्तु नहीं है।”

(यग इण्डिया, २५ सितम्बर सन १९२४ ई०)

“हम राम के गुण गाते हैं, वह वाल्मीकि के राम नहीं। तुलसी-रामायण के भी राम नहीं है। ...असह्य दुःख से दुखी मनुष्य से मैं कहता हूँ कि राम नाम लो...लेकिन यह राम तो दशरथ के पुत्र, सीता के पति नहीं, यह देहधारी राम नहीं हो सकते। जो हमारे हृदय में बसते हैं, वह राम देह धारी राम नहीं हो सकते।” (प्रताप, लाहौर १० अप्रैल सन १९२८)

यह सब कुछ मानते हुये भी, उन्हें अपनी प्रार्थनाओं में, “रघुपति राघव राजा राम, पतित पावन सीताराम” का कीर्तन करने में विशेष आनन्द आता था। राम के साथ ‘रघुपति’ ‘राघव’ ‘सीता’ आदि विशेषणों की सङ्गति लगाना विचारशील पुरुषों के लिये एक पहली ही बनी हुई है। जनसाधारण आज भी उनके राम को रामायण का ही राम समझता है। महात्मा गाँधी

का बाल्यकाल से तुलसीकृत रामायण का पठन पाठन रहा और उनके वही सस्कार कभी-कभी बुद्धि-बाह्य होने पर भी अटल रहे ।

मूर्ति पूजा का किस प्रकार प्रादुर्भाव हुआ, यदि आप इसका तात्कालिक उदाहरण देखना चाहते हैं तो देहली स्थित राजघाट में महात्मा गांधी की समाधि को जाकर देखें । महात्माजी की समाधि पर, जहां उनकी कुछ अस्थियों के ऊपर एक चौकोन चबूतरा बना दिया गया है, नित्य पुष्प, पुष्पमालायें और रुपये जैसे चढाये जाते हैं । इस समाधि के एक ओर उससे लगा हुआ महात्मा जी का ताम्रचित्र रक्खा है जिस पर, समाधि की भाँति पुष्प, रुपये-पैसे ठीक उसी प्रकार चढाये जाते हैं, जैसे लोग मूर्तियों पर चढाते हैं । समाधि और ताम्रचित्र के सम्मुख लोग न केवल हाथ जोडकर शिर झुकाते हैं अपितु आप उन्हें साष्टांग दंडवत करते हुए भी देखेंगे । वहाँ मन्दिरों की भाँति एक पुजारो भी रहता है जो चित्र के फूटों से ढक जाने पर उन्हें उसके ऊपर हटाकर दूसरे दर्शको को मूकभाव से फूल चढाने के लिये आह्वान करता रहता है । गांधी जयन्ती पर तो गाँधीजी की एक विशालकाय मूर्ति तक उस समाधि पर रखदी जाती है, और उसकी भी पूजा की जाती है । स्थान स्थान पर ऐसी ही समाधि, मूर्ति, एवं मदिरो की स्थापना हो रही है । और यह असम्भव नहीं है कि गांधी जी की, महात्मा बुद्ध की भाँति, उनकी सुस्पष्ट आज्ञा और इच्छा के विरुद्ध, कहीं मूर्तिपूजा न चल पड़े । हमारे देश के बड़े बड़े गाँधी-भक्त नेता आज इसे रोकने के स्थान पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहन दे रहे हैं । वे समझते हैं कि इससे गांधी जी के प्रति लोगों की भक्ति भावना जागृत होगी और लोग उनका अनुकरण करेंगे, किन्तु मूर्तिपूजा का इतिहास बताता है कि उनकी यह धारणा दुराशामात्र ही रहेगी ।



## सिन्धु घाटी की सभ्यता और मूर्तिपूजा

पुरातत्व विभाग द्वारा भारतवर्ष में अनेक खुदाई हुई है और होती रहती है। अनेक नगरो और स्थानों की खुदाई में कहीं कहीं मूर्तिया भी मिलती हैं। इन मूर्तियों को देख प्रायः मूर्तिपूजा के समर्थक प्राचीन भारत में मूर्तिपूजा का प्रचलन सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु सिन्धु-घाटी में हडप्पा और मोहनजोदडो की खुदाई के अतिरिक्त जितनी मूर्तियाँ अब तक प्राप्त हुई है वे सभी पुरातत्व-विभाग विशेषज्ञों एवं ऐतिहासिकों द्वारा बौद्ध और उत्तर बौद्ध कालीन मानी जाती है। किन्तु सिन्धु घाटी की सभ्यता पाँच हजार वर्ष पुरानी आँकी जाती है। हाल में सौराष्ट्र के रंगपुर की खुदाई से यह सिद्ध हुआ है कि इस सभ्यता के चिन्ह केवल सिन्धु घाटी ही में नहीं अपितु दक्षिण में सौराष्ट्र तक प्राप्त होते हैं हडप्पा और मोहनजोदडो में कुछ मूर्ति और मुद्राएँ मिली है। मूर्तियों में स्त्री-पुरुष की मिट्टी की मूर्तियों के अतिरिक्त कुछ शिवालिंग आकृति की मूर्तियाँ भी हैं। साथ ही मोहनजोदडो में जो मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं उन पर जो आकृतियाँ बनी हुई है उनका सम्बन्ध भी पशु-पति आदि देवों से जोड़ा जाता है। जहाँ तक “शिव-लिङ्गमूर्ति” का सम्बन्ध है जब तक यह वस्तुएँ किन्हीं शिवालय अथवा पूजा स्थान में प्राप्त न हो, यह पीसने और रगड़ने के कार्य में आने वाले पत्थर के खरल बट्टे जिनकी आकृति आज भी इस देश में लिङ्ग योनि जैसी होती है, क्यों नहीं हो सकते ? मुद्राओं पर जो आकृतियाँ अंकित हैं, वे इस देश की देवी देवताओं से नहीं मिलती। तब उनके आधार पर ५००० वर्ष पूर्व इस देश में मूर्ति-पूजा का प्रचलन सिद्ध करना केवल कल्पना मात्र है।

आइए अब उन तथ्यों पर जिन पर इन नगरो की खुदाई कराने वाले मि० जोन मार्शल पहुंचे हैं विचार करे । मार्शल का मत है कि यह सभ्यता आर्यों के इस देश में आगमन के पूर्व की सभ्यता है जो उनके आक्रमण से नष्ट भ्रष्ट हो गई । जोन मार्शल मैके तथा उनके अनुगामी पुरातत्व अन्वेषक एव ऐतिहासिको का इस बात में एक मत है कि यह सभ्यता 'मैसोपोटामिया' की सुमेरियन सभ्यता से बहुत मिलती जुलती है । इन स्थानो पर प्राप्त नर-मूर्तियों की आकृति उनके वस्त्र पहिनने के ढंग, आभूषण, मिट्टी के पात्र तथा मुद्राएँ सभी मैसोपोटामिया की सुमेरियन सभ्यता जैसी हैं । मूर्तियों को खण्डनः बनाने की विधि जिनका प्रयोग हड़प्पा मूर्तियों में किया गया है, भारतीय मूर्ति कला में अज्ञात है । परन्तु इसके उदाहरण मैसोपोटामिया के दो प्राचीन खण्डनो में मिले हैं:—यह मूर्तियाँ भी खण्डनः बनाई गई थी । मोहनजोदड़ो में प्राप्त एक नर-मूर्ति महत्वपूर्ण है । इसकी गोल छोटी दाढी, ऊपर का होंठ साफ मुंडा हुआ है । माथे पर शिर के वालों को यथा स्थान रखने के लिए छोटी पट्टी बँधी हुई है । यह बाएँ कन्धे और दाहिनी बगल में होता हुआ शरीर पर एक वस्त्र ओढ़े हुए है जिस पर तिपत्ती मिट्टी के बूटे हैं । इसी प्रकार के बूटे मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की अन्य वस्तुओ पर भी अंकित हैं, जो मैसोपोटामिया में उर नाम के प्राचीन खण्डन में भी पाए गए हैं, जो अनुमानतः ईसा पूर्व ३००० वर्ष पुराने हैं ।

मिट्टी की स्त्री मूर्ति केवल एक कटि वस्त्र पहिने हुए है जिसकी तुलना भी सुमेरियन स्त्रियों के 'कौनक' कटि वस्त्र से की जा सकती है । मुद्राओ पर अङ्कित देव मूर्तियाँ और लिपि भी मैसोपोटामिया की सुमेरियन जाति की देव मूर्तियों और लिपियों में बहुत समानता रखती है, जिनका वर्णन उनके कथानकों में

मिलता है। यह देव मूर्तियाँ भारतीय किसी भी देव-मूर्ति के तुल्य नहीं हैं।

इस प्रकार अब केवल विचारणीय विषय यह रह जाता है कि यह सभ्यता जो मैसोपोटामियाँ आदि की सभ्यता से मिलती जुलती है भारत से वहाँ गई, जैसा कि मार्शल आदि का मत है, अथवा भारत में वहाँ से आई। जिन विद्वानों और ऐतिहासिकों का यह मत है कि आर्य यही के निवासी हैं, बाहर से आकर यहाँ नहीं बसे उनके मतानुसार सिन्धु घाटी की सभ्यता विदेशी सभ्यता ही हो सकती है, और यह मानने में कि वह विदेशों से यहाँ आई, कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। इसका एक प्रबल प्रमाण सिकन्दर के राजदूत मेगास्थनेस के लेखों से प्राप्त होता है—

The men of greatest learning among the Indians tell certain legends.

“.....They relate that in the most primitive times, when people of the country were still living in villages, Diomysos made his appearance coming from the regions lying to the west, and at the head of a considerable army. He overran the whole of India .....He was besides, the founder of large cities.....after reigning over the whole of India for two and fifty years he died of old age.....At last, after many generations had come and gone, the sovereignty, it is said, was dissolved, and democratic governments were set up in the cities.....

.....and their city Nyas, which Dionysos had founded.

The Nysaioi, however, are not an Indian race, but descendants of those who came into India with Dionysos.....

Father Bacchus.....was the first of all who triumphed over the vanquished Indians. They further called the Oxydrakai descendants of Dionysos, because the vine grew in their country. Tombs are plain, and the mounds raised over the head lowly.”

अर्थात्—भारतीय विद्वानों की परम्परा के अनुसार दानवासुर पश्चिम से ( India ) सिन्धु में आया । उसने सारा सिन्धु विजय किया । वह बड़े बड़े नगरों का निर्माता था । नैश नगर उसी का निर्मित है । नैश के वासी भारतीय नहीं है, दानवासुर के वंशज हैं क्षुद्रक लोग भी दानवासुर के वंशज हैं । उनके देश में अंगूर ( द्राक्षा ) उगती थी । ..... .. क्षुद्रकों की कब्रें साफ और नीची होती हैं ।.....दानवासुर के अनेक पीढ़ी पश्चात् एक राजा का राज्य हट कर अनेक नगरों में गणराज्य स्थापित हुए ।

टिप्पणी—पुराने यवन सिन्धु और पञ्जाब को India अथवा सिन्धु प्रदेश कहते थे । शनैः शनैः यह शब्द समस्त भारत के लिये प्रयुक्त होने लगा । पञ्जाब और सिन्धु की अनेक जातियाँ असुरों के वंशों में हैं । (भारतवर्ष का वृहद् इतिहास—( ५० भगवद्गीता वी.ए. )

अतः सिन्धु-घाटी में प्राप्त शिव लिङ्ग—यदि उसे वास्तव में शिव लिङ्ग कहा जा सकता है—तथा मुद्राओं पर अंकित देव

मूर्तियाँ विदेशियों की देव मूर्तियाँ हैं, जिन्हें वे अपनी सभ्यता के साथ इस देश में लाए, भारतीय नहीं। शिव लिंग पूजा भी अमरतीय ही है। अफ्रीका के एक भाग में अब भी एक शिवालय है, जहाँ शिव-लिङ्ग स्थापित है। अरब देशों में इस्लाम से पूर्व शिव-लिङ्ग पूजा प्रचलित थी।

आश्चर्य यह है कि मूर्ति-पूजा-समर्थक, मूर्ति-पूजा की प्राचीनता सिद्ध करने की धुन में आर्यों का विदेशों से आगमन मानकर अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति पर कुठाराघात होना कैसे सहन कर लेते हैं ? सिन्धु घाटी की सभ्यता पाँच हजार वर्ष पुरानी मानी जाती है, जो भारतीय धार्मिक इतिहास के अनुसार महाभारत काल के लगभग तक पहुँचती है। तब क्या आर्य—संस्कृति का प्रादुर्भाव महाभारत के समय से ही माना जाय ? तब क्या 'राम'—जिनकी मूर्ति को विष्णु अवतार मानकर पूजा की जाती है अनार्य थे ? अथवा राम का समय महाभारत के पश्चात् माना जाय ? दुःख है कि पाश्चात्त्यों के इस मिथ्या प्रचार का कि हमारे आर्य—पूर्वज विदेशी आक्रमणकारी थे, यहाँ के मूल निवासी नहीं, का हम भी अनुकरण करते हैं। हम आज भी नहीं समझ पा रहे हैं कि उनकी इस कुटिल नीति ने इन देश में क्या उत्पात खड़े किए हैं, और कितना विषैला वातावरण उत्पन्न कर दिया है। भील, कोल, नागा आदि वन जातियाँ ही नहीं द्रविड़, एव हिंदुओं की परिगणित जातियाँ भी अपने को यहाँ का मूल निवासी बताते हैं और ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ग को विदेशी आक्रमणकारी कह कर घृणा की दृष्टि से देखने लगे हैं। आवश्यकता इस बात की है कि अब भारतीय इतिहास के उन पृष्ठों को—जिनमें आर्यों को अमरतीय बताया गया है—फाड़ फेंका जाय, इसी में हमारा कल्याण है।

## वेदों में मूर्ति पूजा की भ्रान्ति

बहुत से पाश्चात्य एवं उनके अनुगामी भारतीय विद्वान कुछ वेद-मन्त्रों को लेकर उनमें मूर्ति पूजा का मूल खोज निकालने का प्रयत्न करते हैं। मूर्ति-पूजा के समर्थक पौराणिक पण्डित भी वेदों के ऐसे ही मन्त्रों को अपना पक्ष सिद्ध करने के लिए प्रायः प्रस्तुत किया करते हैं। ऐसे ही कुछ प्रसिद्ध वेद-मन्त्रों पर यहां विवेचन किया जाता है। वास्तविकता यह है कि यह लोग या तो वेदार्थ शैली से अनभिज्ञ होने के कारण ऐसे अर्थ करते हैं अथवा ऐसा करने में उनका पक्षपात और स्वार्थ निहित होता है अन्यथा जैसा कि अन्यत्र सिद्ध किया जा चुका है वेद निराकार एवं अमूर्त ईश्वरोपासना का ही प्रतिपादन करते हैं, वेदों पर जितने भी उब्बट से सायण तक भारतीय भाष्य उपलब्ध हैं, किसी ने भी इनके मूर्ति पूजा परक अर्थ नहीं किये। चाहे किन्ही भाष्यों से बहु-देवतावाद की गन्ध आती हो किन्तु मूर्ति पूजा का इनमें सर्वथा अभाव ही है।

पहले हम उन पाश्चात्य तथा उनका अनुकरण करने वाले भारतीय विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले ऋग्वेद के प्रसिद्ध दो मन्त्र जिनसे वेदों में 'लिंग-पूजा'—जिससे उनका तात्पर्य इस देश में प्रचलित शिव-लिंग पूजा से है—को सिद्ध करना है, लेते हैं।

“न यातव इन्द्र जूचुवुर्नो न वन्दना ष्विष्ठ वेद्याभि ।  
न षर्षदयो कि विपुणस्य जन्तोर्मा शिश्न देवा अपि गुर्हृतनः ॥”

( ऋग्वेद ) ७।२।५

इस मन्त्र में आए—“मा शिश्न देवा अपि गुर्हृतनः” इसकी

व्याख्या यास्काचार्य ने निरुक्त नैगम काड ४।३।४५ मे निम्न प्रकार की है—

—“म शिश्न देवाः” —अ ब्रह्मचर्या शिश्नमृश्नथतेः ।

अपिगुः ऋतं न सत्य वा यज्ञं वा । अर्थात् कामीजन हमारे यज्ञ मे न आये । शिश्न से क्रीडा करने वालो को ‘शिश्नदेव’ कहा गया है ( निरुक्त प्रदीप पूर्वार्ध पृष्ठ २८२ ) ।

सायणाचार्य ने शिश्नदेव का अर्थ भी—‘अथच शिश्नदेवाः शिश्नेन दीव्यन्ति क्रीडन्त इति शिश्नदेवा अत्रह्मचर्या इत्यर्थ । अर्थात् जो लोग लिंग से खेलते है वे अत्रह्मचारी है,—किया है ।

स वाज यातापदुष्पदा यन्त्स्वर्पाता परिषदत्स निष्यन् ।

अनर्वा यच्छतदुरस्य वेदो घञ्छिश्नदेवा अभिवर्षसा भूत् ॥

( ऋग्वेद १०।६६।३ )

इस पर भी सायणाचार्य ने “शिश्नदेवान् अत्रह्मचर्यान् शत्रु पुर सम्बन्धिषु वर्त्तमानान् घ्नन् हिंसन्” -अर्थात् लिंग जन्य कामनाओ को मारकर शान्ति लाभ करता है इत्यादि भाष्य किया है ।

उपर्युक्त दोनो ही मन्त्रो मे “शिश्नदेवाः” का अर्थ कामी एव अत्रह्मचारी ही है । इससे लिंग पूजा किसी प्रकार सिद्ध नही है । अतएव इन विद्वानो की यह कल्पना कि वेदो मे लिंग पूजा है सर्वथा भ्रान्त और निराधार है ।

अब उन मन्त्रो पर, जो प्रायः मूर्ति-पूजा के पोषक पौराणिक विद्वानो द्वारा मूर्ति पूजा के पक्ष मे प्रस्तुत किए जाते हैं, यहां क्रमशः सक्षेप मे विचार करते हैं:—

‘सहस्रस्य प्रमा असि सहस्रस्य प्रतिमा असि ।

सहस्रस्योन्मासि । सहस्रोऽसि सहस्राय त्वा ॥

इस मंत्र में प्रतिमा शब्द मूर्ति के लिए नहीं अपितु माप के लिए प्रयुक्त हुआ है। महीधर का निम्नार्थ इसकी पुष्टि करता है :—

‘हे अग्ने ! सहस्रस्येष्टकाना प्रमा प्रमाणं त्वमसि । सहस्रस्य प्रतिमा प्रतिनिधिरसि । सहस्रस्योन्मान ।

तुलासि । ‘अर्थात् हे अग्निदेव ! तू सहस्र ईंटों का प्रमा प्रमाण है। सहस्र ईंटों की तू प्रतिनिधि है। सहस्र ईंटों का तू नपना है।

‘संवत्सरस्य प्रतिमां या त्वा रात्र्युपास्महे ।  
सान आयुष्मती प्रजा रायस्पोषेण संसृज ।

—अर्थात् हे रात्रि ! हम तेरी उपासना करते हैं—तेरा सेवन करते हैं—भले प्रकार सोते हैं। यह रात्रि क्या है ? सवत्सर—वर्ष का माप है। दिन और रात्रि से ही वर्ष नापा जाता है। इसलिए रात्रि को सवत्सर का माप कहा गया है। इस पारस्कार गृह्यसूत्र-कार लिखता है।

‘यां जना. प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनु निवायती संवत्सरस्य यापन्ति नानो अस्तु सुमगली स्वाहा । सवत्सरस्य प्रति माया—

—ता ग्व रात्रि मुपास्महे । सवत्सराय परिवत्सरोयदावत्स-  
रायेद्वत्सरायकृणुतावृहन्नमः’—अर्थात् जिस रात्रि में मनुष्य आनन्द मनाते है। रात्रि गौ के समान दूध देने वाली है, जो सवत्सर को प्रतिमा—नापने का साधन है, ऐसी रात्रि को हम उपासना करते है—सेवन करते है, इत्यादि ।

कामीत्प्रमा प्रतिमा किं निदान माज्य किमा सीत परिधि क  
यासीत् छन्दः किमानीत् प्रउगं किमुक्थ यद्देवा देवम् जयन्त विष्णवे ॥

इस मंत्र से भी प्रतिमा शब्द मूर्ति अर्थ में सिद्ध नहीं होता ।



इसके भाष्य में सायणाचार्य कहते हैं—

तदानी तस्य यज्ञस्य प्रमा प्रमाण इयन्ता का कथभूतासीत् !  
तथा प्रतिमा हविः प्रतियोगित्वेन मीयते निर्मायत इति प्रतिमा देवता सा  
वा नस्य यज्ञस्य कासीत् ।

यहाँ पर प्रतिमा का अर्थ सायण ने यज्ञ का हविः स्थानीय प्रतिनिधि पदार्थ माना है, सत्यार्थ की दृष्टि से यह मत्र यही वक्तोता है कि सृष्टि रचना रूप यज्ञ का नपना परिधि और हविः आदि क्या थे, यह प्रश्न किया गया है ।

उपर्युक्त मन्त्र में प्रतिमा शब्द को लेकर मूर्तिपूजा की कल्पना की जाती है । अमर कोष में प्रतिमान, प्रतिबिम्ब, प्रतिमा, प्रति-यातना, प्रतिच्छाया, प्रति-कृति, अर्चा प्रतिनिधि, यह आठ नाम प्रतिमा के दिये हैं । मनुस्मृति में 'प्रतिमान्' का अर्थ तौलने के बाटो का किया है :—

तुलामान प्रतिमान सर्वत्र स्यात् सुलक्षितम् ।

पट्सु पट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥

(मनु० ८।४०३॥)

अर्थात् तुला की तौल और मानो को अच्छे प्रकार देखे, और छः छः महीने में जांच कराता रहे ।

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि प्रतिमा का अर्थ केवल मूर्ति ही नहीं है, और इन मन्त्रों में यही अर्थ सगत हैं ।

त्र्यम्बक यजामहे सुगन्धि प्रतिवेदनम् उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुंक्षीय मामृताः ॥  
(यजु० ३।६०)

'त्र्यम्बक' शब्द के अर्थ सायणाचार्य निम्न प्रकार करते हैं—

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्राणां त्र्यम्बकं पितर यजामहे ।

अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का जो पिता है उसका हम

यजन करते हैं। कात्यायन जी कहते हैं—अग्निः त्रिपर्यन्ति,  
५ । १० । १५ । इस मन्त्र से अग्नि की तीन परिक्रमा करती है ।

सोम सूर्याग्निकामत्मकानि लोचनानि यस्य स त्रिलोचनः

(कैवल्योपनिषद् दीपिका टीका पृ० ७१४)

अर्थात् सोम, सूर्य और अग्नि ये तीन नेत्र वाला ।

इनके प्रमाणों से 'त्र्यम्बक' का अर्थ यहां तीन नेत्र वाला शिव सिद्ध नहीं होता । इस मन्त्र का युक्ति युक्त अर्थ इस प्रकार है—  
[सुन्दर पालन शक्ति देने वाले ईश्वर की हम उपासना करते हैं, जिससे हम डंठल से खरबूजे के समान इस लोक बन्धन से छूट जाँय, मोक्ष से नहीं ।]

याते रुद्र शिवा तन्नूरघोराऽपापकाशिनी ।

तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभि चाकशीहि ॥

(यजु० १६ । २॥)

इस मन्त्र में गिरिशन्तः का अर्थ महीधर ने निम्न किया है—

गिरिपात्रि स्थितः शन्तिनोति विस्तारयति गिरिशन्तः ।

वा गिरीमेवे स्थितो वृष्टि द्वायेण शन्तिनोति गिरिशन्तः ॥

अर्थात् वाणी में स्थित होकर शान्ति का विस्तार करे । अथवा मेघ में स्थित होकर कल्याण का प्रसार करे । वह 'गिरिशन्तः' है । यहाँ पर्वत पर रहने वाले शिव का अर्थ लगाना सर्वथा असंगत और प्रकरण विरुद्ध है ।

श्रीश्चते नक्ष्मीश्च पत्न्या वहोरात्रे पाश्वे नक्षत्राणिरूप

मन्विनोव्यात्तम् । इष्णन्निपाणामु म इषाण सर्वं लोकं म ऽऽपाण ॥

(यजु० १ । २२ ।)

महीधर ने इस मन्त्र का भाष्य करते हुए लिखा है —

श्री लक्ष्मीश्च ते तव पत्न्यौ । जायास्था नीयेत्व दृश्ये इत्यर्थः ।

यथा सर्वजनाश्रयणीयो भवति सा श्रीः सपदित्यर्थः । यथा लक्ष्यते  
दृश्यते जनै सा लक्ष्मी । सौन्दर्यं मित्यर्थः ।

अर्थात् श्री और लक्ष्मी आपकी पत्निया हैं । पत्नी के समान  
आपके वश मे है, यह अर्थ है । जिसका सब जनता आश्रय  
लेती है वह श्री सम्पत्ति यह अर्थ है । जिसे लोग देखते हैं वह  
लक्ष्मी—सौन्दर्य, यह अर्थ है ।

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र का निम्नार्थ किया है :—

हे जगदीश्वर आपकी सामग्री शोभा और सब एश्वर्य भी  
दो स्त्रियों के तुल्य वर्त्तमान है ।

एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः ।

कृष्णवन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥

( अथर्व० २।१३।४ )

इस मन्त्र को मूर्ति मे प्राण प्रतिष्ठा करने में लगाया जाता है  
परन्तु यहाँ उपनयन सस्कार के समय का वर्णन है । इस पर  
सायणाचार्य लिखते हैं—

हे माणवक ! एहि आगच्छ । अश्मानम् आतिष्ठ दक्षिणेन पादेन  
क्रम । ते तव तनू शरीर अश्मा भवतु । अश्मावत् रोगादिविनिमुक्तं  
दृढ भवतु । विश्वेदेवाश्च ते शत सवत्सर—परिमितम् आयुः कृष्णवन्तु  
कुर्वन्तु—अर्थात् हे माणवक छात्र ! आओ पत्थर को दाहिने पाव से  
क्रमण करो ।

तुम्हारा शरीर सब तरह रोगादि से रहित दृढ़ हो । समस्त  
देव गण तुम्हारी आयु का सौ वर्ष परिमित करें ।

...इस मन्त्र मे प्राण प्रतिष्ठा की गंध मात्र भी नहीं है ।

नील ग्रीवाः शितिकण्ठा दिव ग्व रुद्राऽउपश्रिताः ।

तेषा ग्व सहस्रयोजनेऽव घन्वानि...तन्मसि ॥ (यजु० १६।५६)

इस मंत्र में नील ग्रीव शिव का वर्णन बताया जाता है परन्तु उव्वट इसकी टीका करते हुए लिखते हैं—

“नीलग्रीवाः द्युस्थाना उच्यन्ते” । अर्थात् नीलग्रीव द्यो स्थान में रहते हैं, ऐसा कहा जाता है ।

असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः ॥ उतैन' गोपाऽअदृश्रन्न-  
दृश्रन्नुदहार्यः सहृष्टो नृडयाति नः ॥ ( यजु० १६।७। )

इस पर नीलग्रीव का अर्थ उव्वट ने निम्न प्रकार किया है—

अग्रीच आदित्यः अवसर्पति अर्वाचीनं सर्पति गच्छति अस्त मय  
वाले नीलग्रीवास्त गच्छन् लक्ष्यते ।

अर्थात् जब सूर्य पश्चिम दिशा में जाकर छिपता है तब नील गर्दन वाला सा दिखाई पड़ता है, अनः नीलग्रीव है ।

उपर्युक्त दोनो मन्त्रो में अस्त होने वाले सूर्य को नीलग्रीव कहा गया है ।

एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वा ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।

स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्क, जनास्तिष्ठति विश्वतोमुखः

( यजु० २।३४। )

इस पर उव्वट का भाष्य—एष एव देव प्रदिश दिशाश्च. सर्वाअनु व्याप्य वर्तन्ते तिर्यंगूर्ध्वमधश्चेति । पूर्वा हजातः अनादि निघनः सम्भूतः नउ गर्भे अन्त स एव च मातुरुदरे अन्तर्गर्भे व्यवतिष्ठते स एव जात. स जनिष्यमाणः । तदुक्तं सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीतेति प्रतिपदार्यं मज्जन. । हे जनाः तिष्ठति सर्वतो मुखः सर्वतोऽक्षिशिरोग्रीव पाणिपाद तिष्ठति । अचिन्त्यसक्तिरित्यर्थः ।

अर्थात् यह देव—परमात्मा प्रदिशाओ और सारी दिशाओं को व्याप्य बरके स्थित है । तिरछे ऊपर नीचे भी । वह पूर्वजात

—अनादि निघन है । वही माता के गर्भ में भी व्यवस्थित —  
( व्यवस्था के साथ स्थित ) है । वही जात पैदा और जनिष्यमाण  
( पैदा होने वाला पदार्थ है । कहा भी है —

सब कुछ यह ब्रह्म ही है । उससे ही जीव पैदा होते हैं ।  
उससे ही जीव भय को प्राप्त होते हैं । और उससे ही जीवित होते  
हैं । ऐसा जन शान्त हुआ प्रत्येक पदार्थ से उपासना करे ।

हे लोगो ! वह सब ओर आँख, शिर, ग्रीवा और हाथ पैर  
वाला स्थित है । अर्थात् अचिन्त्य शक्ति है ।

इस मन्त्र से ईश्वर का गर्भ में आना और अवतार लेना  
सर्वथा असिद्ध है । परमात्मा सर्व व्यापक होने से माता के गर्भ  
में भी स्थित है ।

इद विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।

समूढमस्य पा ग्व सुरे स्वाहा ॥ (यजु० ५।१५)

इस मन्त्र पर यास्काचार्य का भाष्य इस प्रकार है —

अथ यद्विपितो भवति तद् विष्णुर्भवति । विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नो तेर्वा ।  
तस्यैवा भवति “इद विष्णुर्विचक्रमे” यदिद कञ्चि तद्विक्रमते विष्णु  
त्रिधा निधत्ते पदं पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः , समारोहणे  
विष्णुपदे गयशिर सीत्यौरावाभ । समूढमस्य पासुरे ऽप्यायने अन्तरिक्षे  
पद न दृश्यते, अपि वोपमार्थे स्यात्, समूढमस्य पासुल इव  
पदं न दृश्यते, इति

निरुक्तदैवत ॥ १२ । २ । १२ ॥

अर्थात् जिस लिए किरणों से व्यापक होता है अतः विष्णु  
कहते हैं । किरणों से प्रविष्ट होता है, इस लिए भी विष्णु कहते  
हैं । सर्वत्र रश्मियों द्वारा प्रविष्ट होता है, इसलिए भी विष्णु  
कहते हैं ।

जो ऐसा कार्य करे वह विष्णु । अर्थात् सूर्य तीन प्रकार से पृथ्वी, अंतरिक्ष और आकाश में अपने पद (किरण) डालता है ।

ऐसा शाकपूणि आचार्य का मत है । श्रीर्णवाभ आचार्य ने तीनो पदो को प्रातः मध्याह्न और अस्त समय की सूर्य किरणो माना है । इस सूर्य की जो विद्युत नाम की किरण है वह आकाश में अदृश्य है जिस प्रकार रेतीली भूमि पर पैरो के निशान दिखाई नहीं देते (दुर्गाचार्य)

महीधर ने तीन पदो की व्याख्या अग्नि, वायु और सूर्य रूप से की है, और विष्णु से परमात्मा का अर्थ ग्रहण किया है ।

जिस प्रकार रेतीली भूमि पर रखा हुआ पैर का निशान दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार पुण्य न करने वालों को उस परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होता ।

उव्वट ने भी इसी से मिलता जुलता अर्थ किया है ।

उनके विचार से पद का अर्थ है जिसके द्वारा ज्ञान हो । विष्णु ने भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक में अग्नि, वायु और सूर्य रूप से अपने पद रखे । अर्थात् तीनों लोकों में विद्यमान इन तीन शक्तियो से परमात्मा का ज्ञान ( अनुमान ) किया जा सकता है ।

सायण ने इसी मन्त्र पर ऐतरेय ब्राह्मण में दी हुई एक आख्यायिका का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

“इन्द्र ने युद्ध में हारे हुए असुरों से संधि की यह शर्त रखी कि यह विष्णु तीन पदो में जितनी वस्तुएं नाप लें, वहाँ हमारा और शेष पर तुम्हारा साम्राज्य रहेगा । असुरों के सहमत हो जाने पर विष्णु ने पहले पैर से दोनो लोक ( आकाश और पृथ्वी )

दूसरे से वेद और तीसरे से वाणी को नाप लिया ।

इस आख्यायिका का सम्बन्ध कुछ विद्वान पुराणों में वर्णित वामनावतार की कथा से जोड़ने का प्रयत्न करते हैं । यह कथा पुराण की कथा से सर्वथा भिन्न है । क्योंकि पुराणों के अनुसार विष्णु ने वामन बनकर तीन चरणों से तीनों लोक नापे थे ।

मंत्र में इस प्रकार की कथा का लेश मात्र भी संकेत नहीं है, और न कहीं वामन शब्द ही आया है ।

सत्यव्रत सामश्रमी ने सायण के पुराण सम्मत व्याख्यान को वैदिक लोगों के लिये अनादरणीय बताया है, क्योंकि यास्क ने ऐसा नहीं लिखा और वेद में कहीं अवतार शब्द के दर्शन नहीं होते ।

मत्वं विभ्रती गुरुभृद् भद्रपापस्य निघन तितिक्षु ।

वराहेण पृथिवी सविदाना सूकराय विजिहीते मृगाय ॥

( अथ० १२ । १ । ४८ )

इस मंत्र का वास्तविक अर्थ यह है, धारण सामर्थ्य से युक्त बहुतो का धारण करने वाली एव पुण्यात्मा और पापी सबको सहन करने वाली पृथ्वी, मेघ से सब कुछ प्राप्त करती हुई सुन्दर किरणों वाले सूर्य को प्राप्त होती है । “अर्थात् यह पृथ्वी सूर्य की आकर्षण शक्ति से कार्य करती है । निरुक्ताकार ने वराह शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है—

“वराहो मेघो भवति । वराहारः” “वरमाहार माहार्षी”, इति च ब्राह्मणम्” । “विध्यद्वराह तिरोऽद्रिमस्ता” इत्यपि निगमो भवति अयम पीतरो वराह एतस्मादेव । वृहति मूलानि वरं वरं मूल वृहती तिवा । वराह मिन्द्रएमुषम्” इत्यपि निगमो भवति ॥

वराह मेघ होता है, क्योंकि वह वर अर्थात् जल का आहार करता है ।

इसी अर्थ की दृष्टि से ब्राह्मण में मेघ के विषय में लिखा है कि उसने जल रूप आहार को ग्रहण किया है । विद्युत् वराह नाम के ग्रन्थ में भी 'मेघ को भेदते हुए' यह अर्थ है, वूसरा वराह शब्द भी इसीलिए शूकर के अर्थ में प्रयुक्त होता है, क्योंकि वह अच्छी अच्छी जड़ों का आहार करता है । इस मंत्र में वराह अवतार किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता है ।

कृष्ण शब्द वेदों के अनेक मंत्र में आया है । परन्तु उसका कृष्णावतार से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है । इन मंत्रों में उसका प्रयोग प्रायः काला रंग, आकर्षक, काला बादल आदि अनेक अर्थों में हुआ है ऐसे कुछ मन्त्रांश यहाँ दिये जाते हैं :—

त्वे अग्ने सुमति कृष्ण वर्ण ॥ऋ० १।७३।७॥ काला रंग ।

प्रत्यकी कृष्ण मध्व ॥ऋ० १ । ६२ । ५ ॥ —काला रंग ।

प्रमन्दिने यः कृष्ण गर्भा निरहन्तृजिह्वना ॥ऋ० १ । १०१। १॥

यहाँ कृष्ण गर्भा के अर्थ पाप गर्भा के हैं ।

तन्मित्रस्य.....कृष्णमन्यद्धरितं सं भरन्ति ॥ऋ० १।११५।५

अथर्व० ३०।१२३।२।२ । यजु २३।३६।

कृष्ण कर्षक, आकर्षण करने वाला -

अयं चक्रमि.....आकृष्ण ईजुः ॥ ऋ० ४ । १६ । १४ ॥

कृष्ण वर्णो मेघः ॥ (सायण) काला बादल ।

अहश्च कृष्णं हरजुं नश्च ॥ऋ० ६ । ६ । १ ।

यहाँ कृष्ण शब्द दिन का विघेपण है । जिसके अर्थ काले के हैं ।

प्रय दग्धो वृजनं कृष्णमन्ति ॥ऋ० ७ । ३ । २ ॥ य० १५।६२॥

अयं नग्ध वृजनं कृष्णं भवतीति वृजति गच्छत्य तनेनेति ॥

वृजनं कृष्णं भवति । (उव्वट) ।



एतस्याग्ने वृजनं ग मन् स्थान कृष्णमस्ति श्याम भवति । कृष्ण-  
चर्त्मा हुतासनः । (महीधर) ।

कृष्णोऽग्रसि ॥ यजु० २ । १ ॥—अस्ति कृष्ण शब्दो वर्णं वचना-  
ऽन्तो दात्त आस्ति कृष्ण शब्दो मृगवचन आद्युदात्त । तदि हाद्युतात्त्वात्  
कृष्णमृगो गृह्यते ॥ (उव्वट)

अथ तु कृष्णः शब्द आदात्त त्वान्मृगवाचि ॥ [महीधर]  
यहाँ पर कृष्ण शब्द काले मृग का अर्थ देता है ।

अश्वस्तु.....कृष्ण ग्रीवः । यजु० २४।१॥

कृष्ण ग्रीवश्छागः । [उव्वट] कृष्ण ग्रीवः श्याम गलोऽजः [महीधर]  
—काली गर्दन वाला बकरा ।

आकृपणेन रजसा ॥ यजु० ३३ । ४३॥—कृष्णेन रजसा  
रात्रि लक्षणेन सह ॥ [ उव्वट—महीधर ]

यहाँ आकर्षण के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है ।

कृष्णेन रजसा ॥ यजु० ३४ । २५ ।—तमोलक्षणेन । [उव्वट]  
कृष्णेन अंधकार लक्षणेन (महीधर)—अधकार ।

वेदो में कही कही राम शब्द भी प्रयुक्त हुआ है । उसका भी  
अर्थ प्रायः अधकार ही लिया गया है—उसका अर्थ ईश्वर अथवा  
रामावतार के लिये कही भी नहीं लिया गया । ऐसा ही एक  
मन्त्र जिसे प्राय रामावतार सिद्ध करने के लिए प्रमाण रूप मे  
प्रस्तुत किया जाता है ; निम्न प्रकार हैः—

भद्रो भद्रया सचमान आगात्स्वसारं जारो अम्येति पश्चात् ।

सुप्नकेतैद्युभिरग्निर्वितिष्ठत्रुशद्विर्वर्णैरभिराममस्थात् ॥

सायण भाष्यः—ऋ० १०।३।३

भद्रो भजनीयः कल्याणो भद्रया भजनीयया दीप्त्योषसा वा  
सचमानः सेव्यमानः सगच्छमानो वग्नि रामात् आजगामागा  
हंपत्यादाहवनीयमागच्छति तत पश्चाज्जारो जरयिता शत्रूणा सोऽग्नि

स्वसारं स्वयं सारिणी भगिनी वागसामुषमभ्येति । प्रथा अप्रकृतैः सुप्रज्ञा-  
नैद्युभिः दीप्तैस्तेजोभिः सर वितिष्ठन् सर्वतो वर्त्तमानः सोऽग्नीसखाद्भिः  
श्वतैर्वरीविरिकैरात्मीयैस्तेजोभी राम कृष्णं शार्वरतमो उभ्यश्चात् ।  
सायं होम ऽभिभूय तिष्ठति ।

यहाँ पर सायण ने राम का अर्थ कृष्ण रगवाला, रात्रि  
सम्बन्धी अन्धकार किया है ।

## महावीर

गत पथ में यज्ञ के एक मिट्टी के पात्र 'महावीर' को बनाने  
का वर्णन है और उसमें इसके बनाने में कुछ वेद मन्त्रों का भी  
विनियोग किया गया है । इसी 'महावीर' पात्र को लेकर मूर्ति-  
पूजा समर्थक बहुत से पौराणिक पंडित इससे 'महावीर' की मूर्ति-  
पूजा सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं यद्यपि इन वेद मन्त्रों में कहीं  
भी 'महावीर' का उल्लेख नहीं है, और इन मन्त्रों का विनियोग  
संबंधा असंगत है तथापि हम यहाँ कुछ प्रमाण देते हैं कि 'महावीर'  
यज्ञ पात्र ही है अन्य कुछ नहीं । यहाँ यह भी विचारणीय है कि  
यह 'महावीर' यदि मूर्ति है तो किसकी है ? तब क्या पूँछ वाले  
पौराणिक हनुमान की है ? महावीर कोई पौराणिक ईश्वरावतार  
तो है नहीं, जो इनके अवतार 'राम' के अनुसार थे । अथवा  
जैनो का तीर्थंकर 'महावीर' है ? इनकी बुद्ध के समान अवतारों  
में गणना नहीं की गई । ऐसी दशा में 'महावीर' की मूर्ति-पूजा  
वेदों से सिद्ध करने में इनका क्या लक्ष्य है—यह यही जाने ।

“किं ते कृष्वन्ति कीकटेपु०” ऋ० ३।५३।१४॥

उन उपयुक्त ऋक् मन्त्र पर सायणाचार्य जी “धर्मप्रवर्ग्यात्स्य  
कर्मोपयुक्तं महावीर पात्रम् स्वपयः प्रदानं द्वारेण न तपन्ति” ॥

अर्थात् कीकट देश वह कहलाता है जहाँ पर गौएँ अपने दूध से कर्म काण्ड में आने वाले पात्र महावीर को नहीं तपाती ॥

तदेतद् देव मिथुन यद् धर्मः ॥

(ऐतरेय ब्राह्मण, १।४।५। पृ० ६७॥)

इस पर सायणाचार्य जी—

“सयोधर्मं प्रवर्ग्यं हविराश्रयं भूतो महीवीराख्यो मृन्मयपात्र विशेषो योऽनावस्ति छिन्नं प्रजननेन्द्रियरूपम्” । पृष्ठ ६७॥

अर्थात् वह यह धर्म है जो प्रवर्ग्यं हवि का आश्रय भूत है । इसका नाम महावीर है—मिट्टी का पात्र है……………

महावीर यज्ञ साधने मृन्मय -पात्र भेदे तन्निर्माण विधि ।

(का० श्रौ० सू० २६ ॥ वाचस्पत्यकोषखड २० पृष्ठ ४७४४)

अर्थात् ‘महावीर’ यज्ञ के साधन में मिट्टी का पात्र विशेष है ।

“यदि महावीरो भिद्येत०” (ताण्डय ब्राह्मण ६।१०।१।

॥पृष्ठ ६२३ ॥)

इस पर सायण जी—

“यदि प्रब्रजनं समये महावीरं त्रुट्येत् प्रादेशं मात्रं मृन्मये तस्मिन् पात्रे बहुलं घृतमानीयं सन्तप्तं तस्मिन्नाज्येपयः आनीयं प्रवर्ज्यते स्वप्रवर्ग्यं पात्रं विशेषं महावीरं सपदि भिद्येत् भिन्नो भवेत् तद् भिन्नं महावीरं पक्षते” ॥पृष्ठ ६२३ ॥

आशय—यदि कार्य करते समय महावीर पात्र टूट जाय, ‘त्रुट्येत्’ तो उस महावीर पात्र को घृत में दूध मिलाकर पकाले आदि ।

ग्रिफ़िय साहब ऋग्वेद की टीका करते समय पृष्ठ ४६२ पर लिखते हैं—

“Heated for Pravargya —In which fresh milk was poured into a heated vessel called ‘Mahavira,’ or as in this place Gharma.”

देवतायतनानि कम्पन्ते दैवत प्रतिमा हसन्ति, रुदन्ति, नृत्यन्ति स्फुटन्ति स्वच्चन्ति उन्मीलन्ति ॥ षड्विंश ब्राह्मण ।

इस ब्राह्मण वचन को देख कर मूर्तियों का हंसना, रोना नाचना, पसीना आना, आदि क्रियाओं का होना सिद्ध किया जाता है । यद्यपि यह वेद मन्त्र नहीं है और न इस ब्राह्मण को जिसका यह वचन है प्रमाण ही माना जाता है ।

तथापि यदि मान भी ले तब मन्दिरों की मूर्तियों में यह क्रियाये कहीं दिखाई देती हैं ? इस प्रकार की मिथ्या कल्पनाओं द्वारा जन साधारण को पडे-पुजारियों के धोखा देने के दिन गये । अब यदि यह चमत्कार कर दिखाये जाँय तो मूर्तिपूजा स्वयं सिद्ध हो जाय ।

यहाँ हमने इन वेद मन्त्रों के वे अर्थ जो हमें अभिमत हैं, ग्रन्थ विस्तार भय से नहीं दिये । इन मन्त्रों पर जिन भाष्यकारों की हमने ऊपर सम्मतियाँ उद्धृत की हैं उनसे हमारा अभिप्राय केवल इतना ही सिद्ध करना है कि वेदों के इन मन्त्रों में जैसी कि कुछ विद्वानों को भ्रान्ति है, मूर्ति पूजा तथा उसका सहचर अवतारवाद नहीं है । ऐसे और भी मन्त्र हैं जिनमें किसी पुराण प्रतिपादित अवतार देवता तथा तीर्थस्थानादि का नाम देख कर वेदों में उनका उल्लेख सिद्ध करने का निरर्थक प्रयास किया जाता है वास्तविकता यह है कि इस देश के विद्वानों का झालस्य और प्रमाद के कारण हजारों वर्षों में वेदों का पठन पाठन यहाँ सर्वथा विलुप्त होगया । मध्यकालीन पीगणिक युग में वेद और वेद मन्त्रों का विनियोग केवल यज्ञादि कर्मकाण्ड में होना शेष रहगया । उनका शब्दार्थ करने अथवा जानने की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाने लगी, परिणाम जो होना था वही हुआ । यहाँ के संस्कृत के दिग्गज विद्वानों तक ने वेद मन्त्रों के कुछ शब्दों को लेकर उनका अशुद्ध विनियोग करना प्राग्भ कर दिया । “शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये” को

शनिदेवता का 'उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि" । को नवगृह के बुद्धदेवता का, "गराणां त्वा गणन्ति हवामहे" । को गरुडेश पूजन का मन्त्र कहा और समझा जाने लगा । यद्यपि इन मन्त्रों का पौराणिक देवताओं से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है । इसी का अनुकरण वैदिक साहित्य से अनभिज्ञ बहुत से पाश्चात्य विद्वानों ने किया और उसी का अनुगमन यहाँ के अंग्रेजी के विद्वान कर रहे हैं । पौराणिक विद्वानों द्वारा इन मन्त्रों के अर्थ का अनर्थ करने का कारण जहाँ उनकी वैदिक साहित्य में गति न होना है, वहाँ उनके परम्परागत सस्कार, दुराग्रह एवं मंदिर तथा तीर्थस्थानों से लगा हुआ जीविका साधन भी है ।

हजारों वर्ष के पश्चात् इस युग में वेदों के बुद्धिगम्य भावार्थ को समझने और समझाने का श्रेय एक मात्र ऋषि दयानन्द को ही दिया जा सकता है । यदि दयानन्द ने उनका युक्तियुक्त अर्थ करने का मार्ग प्रदर्शित न किया होता तो वेदों को गडरियों के गीत समझने में कोई सदेह नहीं रह गया था । शताब्दियों विलुप्त वेदों की मानमर्यादा की पुनः स्थापना ऋषि दयानन्द द्वारा ही सम्भव हुई ।

पौराणिक काल में वेदों की अक्षम्य उपेक्षा के साथ उन्हें ईश्वरीय ज्ञान के सर्वोच्च पद से च्युत करके उस स्थान पर पुराणों को आसीन करने का किस प्रकार दुष्प्रयास किया गया — इसके प्रमाण पौराणिक साहित्य के अनुशीलन से आपको स्थान स्थान पर मिलेंगे ।

यहाँ संक्षेप में जो थोड़े से वेद मन्त्र दिये गये हैं उनसे विद्वान पाठकों को यह समझने में कुछ सहायता मिलेगी कि मूर्तिपूजा अथवा अवतारवादादि को वेदों में सिद्ध करने का प्रयास सर्वथा निराधार और निःसार है तथा वास्तविकता से बहुत दूर है ।

## मूर्तिपूजा का मानव जीवन पर प्रभाव

'जीवन' आत्मा और शरीर के संयोग का नाम है। अतः मनुष्य जीवन की उन्नति वा अवनति इन्हीं दोनों की उन्नति वा अवनति पर निर्भर है। मूर्तिपूजा इसमें कहाँ तक साधक वा बाधक है, यही हमें यहाँ विचार करना है।

ईश्वरोपासना आत्म-उन्नति का सर्वमान्य साधन समझा जाता है। जब आत्मा अपनी वृत्तियों को बाह्य जगत से हटा, अन्तर्मुख हो ईश्वरचिन्तन में लवलीन होता है तो हम उसी सामीप्य को उपासना कहते हैं। इसी उपासना द्वारा जीवात्मा अपने मलविक्षेप को दूर कर ईश्वरीय गुण धारण करता है। परन्तु यदि हम ईश्वर के स्थान पर जड़ जगत अथवा जड़मूर्ति का सामीप्य ग्रहण करते हैं, तो स्वभावतः उन्हीं के गुण हम में आते हैं। जैसी हमारी सगति होगी वैसे ही हम बनेंगे। यह एक प्रसिद्ध कहावत है। परन्तु मूर्ति में न तो ईश्वरीय गुण हैं और न वह उसकी आकृति है। अतः वह ईश्वर प्राप्ति का माध्यम भी नहीं हो सकती। चेतन जीव जड़मूर्ति से प्राप्ति ही क्या कर सकता है? उसे तो अपने से किसी बड़ी सत्ता की आवश्यकता है जिसे कुछ प्राप्त कर सके। यह कहा जा सकता है कि मूर्ति ईश्वर की न सही उसके अवतार की तो है। ईश्वर न अवतार धारण करता है और न उसे उसकी आवश्यकता है, यह हम पूर्व ही सिद्ध कर चुके हैं। ईश्वर-अवतार

सिद्ध करना ईश्वर को पदच्युत करके उसे जीव की कोटि में रख देना है। यूनान के एक दार्शनिक जेनोफेनीज ने ऐसे लोगों की मनोवृत्ति का निम्न शब्दों में वर्णन किया है:—

“Negroes imagine them as black with flattened noses, the Thracians with blue eyes and red hairs, if oxen and horses could paint, they would represent their gods as horses and oxen.” (The Problems of Philosophy by Janet and Seailles p. 249)

अर्थात् “नीग्रो लोग अपने देवताओं को काला और चपटी नाक वाला समझते हैं और थ्रेस निवासी उन्हें नीली आँख और लाल केशों वाला। यदि बैल और घोड़े भी चित्रकारी जानते तो वे अपने देवताओं को बैल और घोड़े की आकृति वाला ही बनाते।” ठीक यही अवस्था इन अवतारवादियों की है। इस यूनानी दार्शनिक को कदाचित्त यह पता नहीं था कि भारतीय पुराण कर्ताओं ने ह्यग्रीव (घोड़े के शिर वाला) नरसिंह (सिंह के शिरवाला) सूकर, कच्छ और मच्छ के ईश्वर अवतार की सृष्टि करके उसकी कल्पना की मनुष्य द्वारा ही पूर्ति करा दी है।

मूर्तिपूजा यदि वीरपूजा (hero-worship) के रूप तक ही सीमित रही होती तो इससे मनुष्य जाति का इतना अकल्याण न हुआ होता। अपने महान् पूर्वजों का गुणगान तथा उनका चित्र अथवा मूर्ति-निर्माण कोई बुरा कार्य नहीं है। किन्तु उसकी उपादेयता उसी समय तक ही है जब हम उनके जीवन को उनके ही पदचिह्नों पर चल कर अपना आदर्श बना लें। उनके चित्र अथवा मूर्ति तब ही हमारे जीवन में स्फूर्ति पैदा कर सकती है। परन्तु उन्हें ईश्वर मानकर प्राण प्रतिष्ठा द्वारा चेतन

सत्ता समझ लेना और स्तुति प्रार्थना द्वारा उनसे रक्षा अथवा सहायता की आशा रखना अज्ञान और मूर्खता की पराकाष्ठा है। हिन्दुओं की प्रचलित मूर्तिपूजा-विधि यह निर्विवाद रूप से सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि वे मूर्तियों को एक चेतन सत्ता समझते हैं। मन्दिरों में मूर्ति स्थापित करते समय प्राण प्रतिष्ठा की प्रक्रिया भी हमें इस परिणाम पर पहुँचाती है। परिणाम स्वरूप हिन्दुओं का यह विश्वास रहा है कि मूर्तियाँ उनकी रक्षा और सहायता करने की जहाँ सामर्थ्य रखती हैं वहाँ उनका अनिष्ट भी कर सकती हैं। इस प्रकार हिन्दुओं की मूर्तियों ने सर्वांश में 'ईश्वर' का स्थान ग्रहण कर लिया था। आज भी चाहे शिक्षित समुदाय इस प्रकार का विश्वास न रखता हो, किन्तु हिन्दुओं की निम्न श्रेणी का यही विश्वास है और यही भावना है। यह युक्ति कि हम मूर्ति द्वारा अदृश्य परमात्मा का चिन्तन करते हैं या वह हमारी धारणा वा ध्यान का एक साधन है सर्वथा कपोल कल्पित है और यह युक्ति मूर्तिपूजा के विरुद्ध आक्षेप से वन्न निकलने के लिये घड़ ली गई है।

उपर्युक्त विश्वास ने हिन्दू जाति का कितना अनिष्ट किया है, उसका वर्णन लेखनी की शक्ति से बाहर है। मुस्लिम काल के एक हजार वर्ष की हमारी दुर्दशा और निरुपाय पराधीनता इसी विश्वास के उपरिणाम हैं। जब तक हिन्दू जाति के अन्दर यह विश्वास है, हमारा दृढ़ निश्चय है कि वह किसी भी प्रकार की मुक्ति, चाहे वह राष्ट्रीय हो, चाहे सामाजिक अथवा धार्मिक, प्राप्त नहीं कर सकती। जो लोग राष्ट्र निर्माण में धार्मिक विश्वासों को कोई स्थान नहीं देते वे भूल करते हैं। धार्मिक विश्वास ही हमारा व्यक्तिगत जीवन निर्माण करता है। सामूहिक व्यक्तिगत जीवन ही किसी समाज को ऊँचा उठाता



है और अन्त समाज ही राष्ट्र का निर्माण करता है । अतः धार्मिक विश्वासों की अवहेलना करके राष्ट्र निर्माण का सुखद स्वप्न देखना बुद्धिमत्ता नहीं है ।

धार्मिक विश्वास ने अरब, तुर्क, मुगल जैसी मूर्तिपूजक बर्बर जातियों को थोड़े से समय में एक झुंड के नीचे लाकर सुसङ्गठित कर दिया । धार्मिक विश्वास ने ही उस आर्य जाति को, जो आज भी ससार में अपने ब्रह्मवाद के लिये प्रसिद्ध है, विभिन्न संप्रदायों जातियों और उपजातियों में विभाजित करके वर्तमान दुरवस्था में परिवर्तित कर दिया है । राजा दाहिर की पराजय इसी विश्वास का तो फल था । महमूद गजनवी द्वारा सोमनाथ की लूट भी उसी का दुष्परिणाम था । राजपूत सैकों का विश्वास था कि सोमनाथ, उनकी रक्षा करेगा, परंतु जैसे ही मन्दिर विध्वंस हुआ, उन्होंने अपनी पराजय निश्चित समझली और अपना सारा साहस खो बैठे । जिसका ईश्वर ही पराजित हो गया फिर उसके भक्तों की रक्षा कैसे संभव थी ? इस पर कोका जैसे देशद्रोही भविष्यवक्ता उनका रहा सहा साहस नष्ट करने वाले ज्योतिपियों की यहा कमी नहीं थी । मुहम्मद गौरी, तैमूर, नादिरशाह के इस देश पर निरंतर आक्रमणों की तह में यहीं विश्वास कार्य कर रहा था सृष्टि का यह नियम है कि चिऊँटी जैसा क्षुद्र जीव भी प्रतिक्रिया करता है । हिन्दू लाखों की सख्या में दास बनाकर दूर देशस्थ गजनी आदि स्थानों में भेड बकरी की भाँति ले जाये गए । तैमूर के एक सैनिक के पास इतने हिन्दू बन्दी थे कि उनका प्रबन्ध असम्भव हो गया । खाने की सामग्री के अभाव में उन्हें गाजर-मूली की भाँति टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया । परन्तु वे इतनी बड़ी सख्या में होते हुए भी कुछ न कर सके । क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनकी मानसिक अवस्था कीड़े-मकोड़े से भी गई बीती थी ।

हम इन दुःखद गाथाओं की, जिनका इस पुस्तक में यथास्थान वर्णन हो चुका है, पुनरावृत्ति नहीं करना चाहते। हम केवल इसमें इतना ही सिद्ध करना चाहते हैं कि किसी जाति के उत्थान पतन में उसका धार्मिक विश्वास एक सक्रिय कारण होता है, जिसे अदृष्टिगोचर नहीं किया जा सकता।

इस सृष्टि में हम देखते हैं कि प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव अपने कार्य और भोगानुसार एक दूसरे से किसी न किसी अंश में भिन्न होता है। इस विभिन्नता का सङ्गतिकरण करने के लिए किसी समाज में कुछ नियमों की आवश्यकता होती है। इन्हीं नियमों का दूसरा नाम धर्म है। इसी प्रकार मनुष्य-समाज को एक सूत्र में बाँधने के लिए एकेश्वर का सिद्धांत भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि धर्म, किंतु जब मनुष्य अपनी उच्छ्रंखलता से अपने अपने स्वभाव अथवा रुचि के अनुसार अनेक ईश्वरों, देवताओं एवं संप्रदायों और धर्म ग्रन्थों की सृष्टि करने लगता है तो मनुष्य समाज अनेक भागों में विभाजित होकर सासारिक कलह का कारण बन जाता है। सासारिक इतिहास में ईश्वर और धर्म के नाम पर होने वाले अन्याय और अत्याचार इसके साक्षी हैं। कदाचित् आज का ईश्वर और धर्म विरोधी जनसमाज इसी साम्प्रदायिक कलह का कुपरिणाम है। कापालिकों ने अपने अनुसूत्र 'शिव' की कल्पना कर ली। माँस-मदिरा प्रेमियों ने अपनी रुचि के अनुसार 'शक्ति' की सृष्टि कर डाली। रसिकस्वभाव लोगों ने विष्णु और उसके पूर्णावतार कृष्णको जन्म दिया। प्रत्येक ने अपने अपने उपास्यदेव की प्रशंसा में अनेक ग्रन्थों की—जो पुराणों के नाम से विख्यात हैं—रचना कर ली। उनकी मूर्ति-रचना भी उनकी रुचि के अनुकूल ही है। शैवों का शिव लिङ्ग, शाक्तों की विष्णु रूप तारु और वैष्णवों का रसिक राधावल्लभ कृष्ण

उन-उन सम्प्रदायो की प्रतिच्छाया है। उपर्युक्त देवमूर्तियों का उनके उपासको के चरित्र पर क्या प्रभाव पड़ेगा—ये हम पाठकों के ही निर्णय पर छोड़ते हैं। यह केवल अत्र अनुमान की वस्तु ही नहीं रह गई किन्तु इन सम्प्रदायवादियों के चरित्र पर उनकी प्रत्यक्ष छाप देखी जाती है।

किसी चित्र या मूर्ति को देखकर हम पर दो ही प्रभाव पड़ सकते हैं। प्रथम उम व्यक्ति की स्मृति, जिसकी कि वह मूर्ति है। परन्तु यह तभी सम्भव है जब हमारा उस व्यक्ति के जीवन से परिचय हो। यदि वह सद्गुणसम्पन्न था, अथवा है, तो उसके प्रति हमारी श्रद्धा और प्रेम के भाव जागृत हो सकते हैं। यदि वह दुष्टस्वभाव है, तो घृणा और द्वेष के भाव उत्पन्न होंगे। दूसरा प्रभाव, मूर्ति की सुन्दरता अथवा कुरूपता के साथ मूर्तिकार की कला का, उसने दर्शक पर पड़ता है कोई भी मूर्ति, अमूर्त परमात्मा की न होने से हमारा ध्यान ईश्वर की ओर आकृष्ट नहीं कर सकती उसके बनाये सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, प्राणियों को अद्भुत शरीर रचना, ससार को विमोहित करने वाले वृक्ष, लतिका और पुष्पों से लदे हुए पहाड़ और जङ्गल ही हमें उसकी स्मृति दिला सकते हैं। इन्हें त्याग कर कुशल से कुशल मूर्तिकार की रचना में ईश्वर दर्शन की इच्छा केवल बुद्धि-विभ्रम है।

मूर्तिपूजा का सामाजिक दृष्टि से मानव जीवन पर क्या कुप्रभाव पड़ना है, इसे यदि आप देखना चाहे तो हिन्दुओं के तीर्थ स्थानों की आन्तरिक अवस्था को देखिये। आप सर्वत्र अन्धविश्वास, दभ आडंबर और दुराचार का साम्राज्य पावेंगे। वहाँ आपको ऐसे भी लोग मिलेंगे जो मूर्तिपूजा की उपादेयता में विश्वास रखते हैं। किन्तु प्रायः ऐसे लोग वे हैं जो बाहर से आये हुए हैं और जिन्होंने पवित्र स्थान सम्भ्रं कर उन्हें

अपना निवास स्थान बना लिया है अन्यथा वहाँ के निवासी मूर्ति-पूजा में जीविका के लिये विश्वास करते हैं। दूरदेशस्थ ग्रान्तों से आये दृष्टे यात्रियों को मूर्तियों के चमत्कार को अनेक कल्पित गायबे सुनाकर उन्हें प्रभावित तथा भयभीत करना और बहुप्रकार के दभ और आडम्बर दिखाकर उनकी जेब की अन्तिम पाई तक खाली करा लेना ही इनका मुख्य व्यवसाय है। कभी तो यहाँ के पण्डे इन यात्रियों के पास इतना धन भी नहीं छोड़ते कि वे घर भी लौट कर जा सकें। अन्त में पण्डे ही इन्हें ऋण देकर व्याज सहित उनसे उसे अपहरण करते हैं। स्त्रियाँ जो प्रायः अधिक भावुक होती हैं, इनसे बुरी तरह लूटी जाती हैं। उनके चाँदी सोने के आभूषण तक उतरवा कर यह मूर्तियों के अर्पण करा देते हैं। इन यात्रियों की धर्मभीरुता का ये लाभ कितना दुरुपयोग करते हैं, उसका ठीक अनुमान देख कर हो लगाया जा सकता है। उन स्थानों पर होने वाला परस्त्रीगमनादि व्यभिचार अब कोई स्त्रियाँ बात नहीं हैं। इन दुष्कृत्यों के लिये मन्दिरों के न कवल साधारण पण्डे-पुजारी ही, अपितु बड़े-बड़े महन्त तक ख्याति लाभ कर चुके हैं। बम्बई का महाराज (वैष्णव सम्प्रदाय का एक प्रमुख महन्त) लाडविल कैस, कलकत्ते के गविन्द भवन की गूँज और श्रीनाथ जी के मन्दिर के महन्त दामोदर लाल हता प्रेन—जैसी न जाने कितनी घटनाएँ घटी, और आज भी इन देवमूर्तियों की आड़ में घटती रहती हैं।

मूर्तिपूजा पर देश का कितना धन पानी की भाँति बहाया जाता है जगका अनुमान करना भी कठिन है। मन्दिर निर्माण पर अरबी नरबो का व्यय किया गया है, जिनकी बनावट इस इत्त की है कि उनका कोई दूसरा सदुपयोग असंभव है। अन्धकार युक्त कौटे-कोठरी, जिनमें दिन में भी दीपक के प्रकाश की

आवश्यकता होती है, मूर्तिपूजा से फैलने वाले अन्धकार का द्योतक है। मन्दिरों से लगी हुई करोड़ों रुपयों की वार्षिक आय की अचल सम्पत्ति, उससे भी कहीं अधिक चढावा, यह सब जाति का एक ऐसा धन है जिसका यहाँ अत्यन्त दुरुपयोग होता है।

देश के लाखों अनाथ बच्चे अन्न के एक-एक दाने को तरसते हैं। किन्तु पाषाण-हृदय हिन्दू समाज इन जीवित मूर्तियों से उदास रहकर अपना असख्य धन पाषाण मूर्तियों पर न्यौछावर कर देता है, जिससे लाखों निठल्ले साधु, पण्डे, पुजारी और महन्त आनन्द का जीवन व्यतीत करते हैं। इन मूर्तियों के भोग के लिये अनेक प्रकार का सुस्वादु भोजन, जो धनवानों को भी दुर्लभ है, नित्यप्रति इतनी बहुतायत से बनाया जाता है कि मन्दिर के कर्मचारियों के उपभोग से बचकर बाजार से मन्दिरों की दुकानों पर विक्रता है। हिंदुओं की अपार धनराशि प्रतिवर्ष तीर्थयात्रा के नाम पर रेलों पर व्यय होती है।

इन सबके अतिरिक्त पर्वों और कुम्भों के अवसर पर इन यात्राओं में जो कष्ट होता है उसे हम नित्यप्रति देखते हैं। ऐसे अवसरों पर जो सक्रामक रोग इन तीर्थ स्थानों पर फैलते हैं वह भी हम समाचार पत्रों में पढ़ते रहते हैं।

हिन्दू जाति का जो धन इस प्रकार मूर्तिपूजा के नाम पर लुप्तता है यदि उसे शिक्षा-प्रसार पर लगाया जाय तो कई विश्व-विद्यालय गवर्नमेण्ट से बिना सहायता प्राप्त किये चलाये जा सकते हैं जिनके द्वारा आर्य सस्कृति की रक्षार्थ बहुत कुछ क्रियात्मक कार्य किया जा सकता है। अनाथ, असहाय, वृद्ध और विधवाओं के लिये आश्रम खोलकर उनके कष्ट निवारण किये जा सकते हैं। चिकित्सालय खोल कर देश के निर्धन रोगियों की सहायता की जा सकती है। ऐसे ही न जाने कितने कार्य हैं जो धनाभाव में नहीं हो पाते। परन्तु इसके लिये हमारे

पान वन नहीं है। हाँ, छल कपट से इन कल्पित ईश्वर और धर्म के नाम पर जितना चाहे आप हमसे धन अपहरण कर लीजिए।

हिन्दू जाति की रक्षार्थ अनेक प्रयत्न किए गए और आज भी किए जाते हैं। परन्तु वे सब ही किसी न किसी अंग में असफल रहते हैं। थोड़े से सुधार-प्रिय हिन्दू ग्राम-ग्राम और नगर-नगर फैले हुए मूर्तिपूजा के असंख्य एजेन्टों का, जिनकी जीविका का आधार ही मूर्तिपूजा है, कैसे प्रतिकार कर सकते हैं? ग्राम का पण्डित, वहाँ का पुरोहित, मन्दिर का पुजारी, देवी का भक्त, भूत प्रेत की झाड़ू फूँक करने वाला सयाना, दर्गाहों का मुजावर न जाने कितनों की जीविका का साधन यह मूर्ति-पूजा बनी हुई है। तब बताइये, मुट्ठीभर सुधारक उसे कैसे निर्मूल कर सकते हैं? गुरु नानक और कबीर आदि के अनुगामियों ने भी कदाचित् इसका अनुभव किया होगा। और उन्होंने विवश होकर अन्ततः मूर्तिपूजा से किसी न किसी रूप में समझौता कर लिया। गुरुद्वारों में देवमूर्तियों के स्थान पर गुरु-ग्रन्थसाहब की पूजा इसका एक स्पष्ट उदाहरण है।

मूर्तिपूजा द्वारा जीवन यापन करने वाले इस समुदाय ने राजा राममोहन राय का घोर विरोध किया। ऋषि दयानन्द को तो न जाने कितनी बार इसके लिए विष तक का पान करना पड़ा। मूर्तिपूजा हिन्दू जाति का एक असाधारण रोग है अतः इसके प्रतिकार के लिए असाधारण चिकित्सा की ही आवश्यकता है।



## मूर्तिपूजा और योगसाधन

योगसाधन ही ईश्वर प्राप्ति की एक मात्र विधि है। अन्य प्रचलित विधिया उसका एक अङ्ग हो सकती हैं, सर्वाङ्ग नहीं। ससार में ईश्वर-उपासना की जो विधिया प्रचलित हैं, उनमें से बहुत सी किसी न किसी अर्थ में उसकी ऋणी है, किन्तु अपूर्ण है। इस विधि को समझने के लिए उसका सक्षिप्त परिचय यहाँ अनुचित न होगा। पतञ्जलि मुनि ने अपने ससार प्रसिद्ध योग-दर्शन में, “योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः”—चित्त की वृत्तियों का निरोध अर्थात् वश में रखना योग है—ऐसा लिखा है। “यमनियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि”—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि यह आठ अङ्ग योग के वर्णन किये हैं।

“अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा。”—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी त्याग) ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहा (निलिप्तता) यम है। शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः”—शौच, (पवित्रता) सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वरार्पण) नियम हैं। शेष छः अङ्ग—आसन (सुखपूर्वक शरीर को एक अवस्था में स्थिर रखना, ) प्राणायाम (प्राण को वश में रखने की विधि) प्रत्याहार (इन्द्रिय निग्रह) धारणा (मन की एक स्थान पर स्थिरता) ध्यान (मन का स्थिर होकर निर्विषय हो जाना) समाधि (ईश्वर चिन्तन में निमग्न हो जाना) हैं।

उपर्युक्त योग-साधन-विधि सर्वाङ्ग पूर्ण है। आज तक जितनी भी विविधा योग के नाम से प्रचलित हुई हैं वे सब इस ही का विकृत रूप हैं। प्रायः यह कहा जाता है कि यह विधि इतनी दुःसाध्य है कि कदाचित् कोई ही मनुष्य इसपर चलकर ईश्वर-प्राप्ति कर सके। ईश्वर-प्राप्ति जीवन का अन्तिम और सर्वोच्च ध्येय है, अतः योग विधि, यदि कठिन है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? परन्तु हम ईश्वर प्राप्ति के अनेक सस्ते—किन्तु मिथ्या—उपायों के अभ्यस्त होगये हैं। आप मूर्ति के दर्शन मात्र से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। किसी नदी अथवा जलाशय में एक बार का स्नान आपको स्वर्ग प्राप्त करा सकता है। किसी विशेष प्रकार का तिलक अथवा चिन्ह आपको मुक्ति दिला सकता है। इतना ही नहीं केवल एक बार नामोच्चारण से आप उसके अधिकारी बन सकते हैं। जब ईश्वर प्राप्ति इतना सस्ता सौदा है, तो कौन ऐसा मूर्ख है जो यम नियमों के चक्कर में पड़े ? आसन, प्राणायाम का झुंझ मोल ले अथवा स्वाध्याय में गिर/वृष्णी करे ? धारणा, ध्यान तथा समाधि—जो एक देवदुर्लभ वस्तु है—की तो चर्चा ही व्यर्थ है। इस प्रकार के झूठे प्रलोभनों ने हमें प्राचीन उपासना विधि से बहुत दूर ला खड़ा किया है। हम अष्टाङ्ग योग से अपरिचित नहीं, परन्तु सस्ते नुस्खों के सामने हमने उसे छोड़ रखा है। साधारण समाज की बात जाने दीजिये, हमारा शिक्षित समुदाय भी आज उससे विमुक्त है।

मूर्तिपूजा का योगसाधन में कोई उपयोग नहीं और न उसका इससे कोई सम्बन्ध है। मूर्ति में मन स्थिर होजाता है, यह नई युक्ति है जो शिक्षित समुदाय को प्रभावित करने के लिये गढ़ी गई है। न केवल भारतवर्ष अपितु समस्त ससार की मूर्तिपूजा का प्रतिष्ठान इस युक्ति की सहायता नहीं करता। यदि



मन्दिरों में मूर्ति-स्थापना का यह उद्देश्य होता तो उसमें प्राणप्रतिष्ठा के समस्त विधि-विधान की क्या आवश्यकता है ? मूर्तियों के स्नान, चन्दन, परिधान तथा विभूषण का क्या अर्थ ! भोग लगाना आरती उतारना, चवर डूलाना, पखा करना, सुलाना, जगाना, इस सबका क्या अभिप्राय है ? मूर्ति के समक्ष खड़े होकर उसके हाथ जोड़ना अथवा साष्टाङ्ग दण्डवत् करने का क्या तात्पर्य है ? क्या गन्ध, घण्टा, घडियाल आदि अनेक वाद्यों का कोलाहल कभी मन को स्थिर करने में सहायक हो सकता है ? मन्दिरों का समस्त वातावरण ही उपरिलिखित युक्ति का सर्वथा खण्डन करता है । मूर्तिपूजा का पोषक एक भी पुराण इस युक्ति का उल्लेख नहीं करता । और न मन्दिरों में प्रचलित पूजा-विधि में ही आज तक इसका समावेश है ।

मन्दिरों का जिस ढङ्ग से निर्माण किया जाता है वह भी हमारे ही पक्ष की पुष्टि करता है यदि मूर्ति-पूजा का उद्देश्य मन को स्थिर करना होता तो मन्दिरों की बनावट दूसरे ही प्रकार की होती । बहुत से बड़े-बड़े मन्दिरों में उपासक यदि आसन लगा कर मन को स्थिर करने की भावना से मूर्ति के सम्मुख बैठें तो उन्हें मूर्ति का दिखाई पडना ही कठिन हो जायगा । या फिर शिवालय इतने सङ्कीर्ण होते हैं कि वहाँ चार छः उपासक भी एक साथ नहीं बैठ सकते । मध्य में शिवलिंग, एक ओर शिवपत्नी पार्वती दूसरी ओर उनके पुत्र गजानन, तीसरी ओर उनका वाहन वृषभ । अब कहिए उपासक किस पर अपना मन स्थिर करे ? यदि आप कहे कि शिवलिङ्ग पर, तो अन्य मूर्तियों की स्थापना का वहाँ क्या उद्देश्य ? हमने लोगों को वृषभ की भी पूजा करते देखा है जो सर्वथा स्वाभाविक है । इस प्रकार समस्त मन्दिरों का निर्माण यह निर्विवाद रूप से सिद्ध करता है कि कम से कम मूर्तिपूजा का

प्रचार कभी भी इस उद्देश्य से नहीं किया गया । यदि मूर्तिपूजा का उद्देश्य मन को स्थिर करना होता तो मूर्ति की स्थापना खुले स्थान में होती जिसके चारों ओर उपासक बैठ कर उसकी धारणा कर सकें । धारणा योग का छटा अङ्ग है उसकी तैयारी के लिए पहिले पांच अङ्गों का उपासक को अभ्यास करना होता है । तब कहीं उसका अधिकारी बनता है । किन्तु मूर्तिपूजक के लिए इसकी आवश्यकता नहीं । वहाँ तो मन्दिर में जाकर दर्शनमात्र से उसके पाप नष्ट हो जाते हैं । इतना ही नहीं, यदि भूल से भी देवमूर्ति अथवा उसके निवासस्थान मन्दिर की कुछ सेवा बन जाय तो पापी से पापी मनुष्य भी स्वर्ग का अधिकारी हो जाता है । पुराणों में ऐसी अनेक कथाएँ हैं । एक चोर मूर्ति के आभूषण चुराने के लिये मन्दिर में आया मार्ग में कुछ कीचड़ थी जिससे उसके पैर सन गए । मन्दिर के प्राङ्गण में उसने अपने पैर रगड़ दिए । चोरी करके लौटते समय उसे सर्प ने काट लिया । यम और भगवान के दूतों में उसकी आत्मा को नरक अथवा स्वर्ग ले जाने का विवाद उठ खड़ा हुआ । अन्त में उसको स्वर्ग मिला । क्योंकि उसने भूल से अपने पैरों की कीचड़ मन्दिर में रगड़ दी थी । इसलिये मन्दिर के लेपन का फल उसे मिल गया ।

भविष्य पुराण वा० श्र० १७ के निम्न श्लोक इसके अन्य उदाहरण हैं —

निरन्तर्येण यः कुर्यात् पक्ष सम्भारज्जाचनम् ।

युगमोदिमन साग्र ब्रह्मलोके महायते ॥

अर्थ—एक पक्ष तक यदि कोई निरन्तर ब्रह्मा के मन्दिर में भोजन देवे तो एक अरब युग तक ब्रह्मलोक में रहता है ।

कण्डिकादि यः कुर्यात् ब्रह्मणालां सुभानद ।

संभारज्जादि चै त्वं मोऽपि तन् फलमाप्नुयात् ॥

जो कोई कपट और छल से भी ब्रह्मा के मन्दिर में भाड़ू लेपनादि करता है, उसको भी वही फल मिलता है जो श्रद्धा से करने वाले को मिलता है ।

कल्पकोटिसहस्रस्तु यत् पाप समुपाजितम् ।

पितामहघृतस्नान दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥

अर्थ—करोड़ो कल्पो में जो पाप संचित किया है वह ब्रह्मा को घी से स्नान कराने में दूर हो जाता है । इस-प्रकार पुराणों में स्नान मार्जन, आचमन, धूप, दीप, मन्दिर निर्माण-आदि अनेक कृत्य जो देव मूर्तियों के प्रति किए जाते हैं उनका बड़ा माहात्म्य वर्णन किया गया है । जिससे इस परिणाम पर पहुचने में, कि मूर्तिपूजा का योग की 'धारणा'से कोई भी सम्बन्ध नहीं है, कोई कठिनाई नहीं रहती । मूर्तिपूजा पर बुद्धिमान् लोग सदा आक्षेप करते-रहते हैं । ऐसे लोगों को उत्तर देने के लिए 'चतुर मूर्ति-पूजक इस कल्पित युक्ति के आधार पर एक दार्शनिक भवन निर्माण करने का व्यर्थ प्रयत्न करते रहते हैं। अतः हम यहाँ इस युक्त के दार्शनिक पक्ष पर विचार करेंगे ।

इस पर विचार करने से पूर्व यह समझ लेना चाहिए कि धारणा, ध्यान और समाधि क्या हैं और उनमें क्या अन्तर है । योग दर्शन के मतानुसार—

“देशबन्धश्चित्तस्य धारणा” चित्त का किसी देश ( स्थान ) में बाँधना धारणा कहलाता है । “तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्” । उस धारणा में प्रत्यय ( ज्ञान ) का एक-सा बना रहना ध्यान कहा जाता है । “तदेवार्थमात्रनिर्भास स्वरूपशून्यमिव समाधि” । उसी ध्यान में जब अर्थ ( ध्येय ) मात्र का प्रकाश रह जावे और ( ध्याता ) अपने रूप से शून्य-सा हो जावे तो उसे समाधि कहेंगे । चित्त को एकाग्र करने के लिए अपने शरीर के नाभिचक्र, हृदय-कमल, भूमध्य, नासिका का अग्रभाग

जिह्वा का अग्रभाग आदि स्थान प्रसिद्ध है। तथापि “यथा-  
भिमतध्यानाद्वा” अथवा जो अभिमत (इच्छानुकुल) हो उसका  
ध्यान करने से भी चित्त स्थिर हो जाता है—ऐसा दूसरे स्थान  
पर लिखा है। इन्हीं शब्दों को लेकर लोग कहते हैं कि यदि हम  
किसी देवमूर्ति ही की धारणा अथवा ध्यान करे तो इसमें क्या  
आपत्ति है? परन्तु वे लोग भूल जाते हैं कि किसी बाह्य वस्तु की  
धारणा अथवा ध्यान करने से हम उसी का ज्ञान प्राप्त कर  
सकते हैं, परमात्मा का नहीं। इनको योग दर्शन में सिद्धिया कहा  
गया है और उन्हें समाधि मे, जो योग की अन्तिम सीढ़ी है विघ्न  
बताया है—‘ते समाधावुपसर्गाः व्युत्थाने सिद्धयः’ ये समाधि में  
विघ्न हैं किन्तु व्युत्थान ( योगी की एक अवस्थाविशेष ) में  
सिद्धियाँ हैं।

योग व साख्य दर्शन में ध्यान के दो लक्षण किये गए हैं। पर-  
मात्मा के ध्यान के विषय मे लिखा है—‘ ध्यानं निर्विषयं मनः’  
(साख्य) सम्पूर्ण सांसारिक विषयो से मन को हटाना ध्यान है।  
तात्पर्य यह है कि जब तक मन किसी सांसारिक वस्तु मे लगा  
रहेगा, परमात्मा का ध्यान नहीं होगा। जब किसी भी वस्तु  
विशेष का जिसमे ईश्वर और बाह्य जगत् दोनों ही सम्मिलित  
हैं, ध्यान किया जायगा तो उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त होगा। यदि  
वह ईश्वर है तो ईश्वर का यदि शरीर से सम्बन्ध रखता है तो  
शारीरिक और यदि बाह्य जगत् से उसका सम्बन्ध है तो उस  
वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान योगी प्राप्त कर सकता है।

“नाभिचक्रे कायाव्यूह—ज्ञानम्” नाभि चक्र में धारणा  
ध्यान समाधि द्वारा शरीर की बनावट का सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता  
है। “सूर्ये नयमान् भुवनज्ञानम्” सूर्य मे मंत्र्यम करने से भुवन का  
ज्ञान होता है। “कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्ति” कण्ठकूप नाड़ी मे  
नयन से भूय और ध्यान की निवृत्ति होती है। इत्यादि अनेकों

सूत्रों द्वारा इनका फल, अनेक प्रकार की विद्या तथा विज्ञान की सिद्धि बतलाई है, किन्तु ईश्वर-प्राप्ति नहीं। इन्हीं के द्वारा योगी दूरदेशस्थ स्थान की बात सुन और देख सकता है। तथापि यह समस्त सिद्धियाँ ईश्वर-प्राप्ति में बाधक ही हैं।

अब यदि आप किसी मूर्ति को ही सन्मुख रखकर उसकी धारणा अथवा ध्यान करें तो आप उस मूर्ति का पूरा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अर्थात् यह किस वस्तु की बनी है? किसकी है? उसे किसने बनाया है? मूर्ति सुन्दर है अथवा कुरूप है? और इस प्रकार मूर्ति अथवा मूर्ति कला का ही हमें परिचय प्राप्त होगा, परमात्मा का नहीं।

सूर्य-चन्द्रादि प्रकृति, पदार्थों का ध्यान हमें उनके निर्माता परमात्मा की स्मृति दिला सकते हैं। परन्तु मूर्ति द्वारा हम केवल मूर्तिकार तक ही पहुँच सकते हैं। वर्तमान वैज्ञानिक जगत् के भौतिक आविष्कार भी चित्त के समय का परिणाम हैं केवल प्रकार का अन्तर है। परन्तु एक अभागे हम हैं कि योगदर्शन जैसे रत्नको रखते हुए भी लौकिक और पारलौकिक दोनों ही उन्नतियों से वञ्चित हैं। 'योगदर्शन' हिन्दू जाति के ज्ञान के भण्डार में एक ऐसा रत्न है, कि यदि हमने मूर्तिपूजा के भ्रमजाल में फस कर उसकी शिक्षाओं को विस्मृत न किया होता तो यह जाति उसके सम्यक् ज्ञान द्वारा आज उन्नति के शिखर पर होती। वर्तमान समस्त वैज्ञानिक खोज एक योगी के लिए साधारण-सी सिद्धियाँ हैं। जिन्हें वह परमानन्द की प्राप्ति के सम्मुख न केवल तुच्छ अपितु उसमें बाधक समझता है। केवल चित्त के एकाग्र होने पर चिरस्थायी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती अन्यथा विषयों में भी थोड़े क्षण के लिए चित्त एकाग्र हो जाता है। हम जो भी क्षणिक सुख अनुभव करते हैं वास्तव में वह

हमें उस विषय से प्राप्त नहीं होता अपितु उसका मूल स्रोत चित्त की एकाग्रता है परन्तु यह चित्त की एकाग्रता भी स्थायी सुख का कारण नहीं है। स्थायी सुख तथा आनन्द का स्रोत तो परमात्मा है। अतः जब तक मनुष्य का चित्त प्राकृतिक पदार्थों में उलझा रहेगा, चाहे वे योग की सिद्धियाँ ही क्यों न हो आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। इन्हींलिए इन सिद्धियों को भी परमात्मा की प्राप्ति में बाधक बताया है। जब यह सिद्धियाँ ही बाधक हैं तो मूर्ति-पूजा का तो उसमें सम्बन्ध ही क्या? 'मूर्ति' की योगदर्शन के किसी भी प्राचीन भाष्यकार ने धारणा की जाने वाली वस्तुओं में गणना नहीं की और न मूर्तिपूजा की ओर कहीं सङ्केत ही किया है। यह तो एक ऐसी कल्पना है जिसके लिए न कोई युक्ति है, और न प्रमाण।

संसार में यदि आज योग-साधन-विधि विलुप्त हो गई है, तो उसका समस्त उत्तरदायित्व मूर्तिपूजा और उसके प्रचारकों पर है। यदि आज मानव समाज ईश्वरविमुख होकर सांसारिक भोग विलास के प्रभाव में वहा जा रहा है तो इसके लिए वे उत्तरदाता हैं, जिन्होंने योग-विज्ञान पर अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए कृष्णघात किया। हमने यदि इस अपूर्व विज्ञान को तिलाञ्जलि न दी होती तो आज संसार का चित्र ही दूसरा होता। पश्चिम के लोग आज भी योग के नाम पर मुग्ध हैं। अमेरिका के लिए उस भौतिक युग के चकाचीध में भी 'योग' शब्द विशेष आकर्षण रखता है। किन्तु आज 'योग विधि' अपनी जन्म भूमि भारत में ही विलुप्त हो चुकी है। तब इन देशों को उसका द्विजात्मक संदेश दे तो कौन दे? मूर्ति चित्त को एकाग्र करने का साधन नहीं हो सकती इस पर आइए मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी विचार करें। मन अपनी चंचलता के कारण अस्थिर रूप में हम-उधर घूमता रहता है। उसकी इस चंचलता को

दूर करने के लिए उसे एक स्थान पर स्थिर करने का अभ्यास करना चाहिए। वह स्थान इतना सूक्ष्म होना चाहिए अथवा उसे क्रमशः इतना सूक्ष्म बना लेना चाहिए कि जिससे मन को इधर-उधर दौड़ने का अवकाश न मिले।

मेस्मरेजम (Mesmerism) जो योग का ही विकृत रूप है, का अभ्यास करने वाले गोलाकार विन्दु को सकीर्ण करते जाते हैं। यहाँ तक कि वह एक अत्यन्त सूक्ष्म विन्दु रह जाता है परन्तु अन्त में उसे भी हटा दिया जाता है। अभिप्राय यह है कि मन को केन्द्रित करने के लिए सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु की आवश्यकता है जिससे उसे इधर-उधर दौड़ने का अवसर न मिले। किन्तु मूर्ति पर अभ्यास करने से हमारी उद्देश्य-मूर्ति न केवल कठिन अपितु असम्भव हो जाती है। मूर्ति के सम्मुख आते ही आपका मन उसके विभिन्न शाश्वतिक अङ्गों में भ्रमण करने लगेगा। उसके चित्र विचित्र वस्त्रों तथा आभूषणों में घूमेगा। यदि उस मूर्ति का आधार कोई ऐतिहासिक अथवा कल्पित पौराणिक व्यक्ति विशेष है तो मन तत्सम्बन्धिक इतिहास अथवा गाथा का स्मरण आते ही उसमें उलभ जायगा। और इस प्रकार साधक अपने उद्देश्य के निकट न पहुँचकर उससे उत्तरोत्तर दूर होता चला जायगा। इसलिए देश और जगत् के शुभचिन्तक एवं विचारशील पुरुषों का कर्तव्य है कि वे इस भयकर धार्मिक कुरीति का यथोचित प्रतिकार करने का प्रयत्न करें और इसके स्थान पर प्राचीन योग विधि का जिसमें कि एक साधारण व्यक्ति से लेकर उच्च से उच्च वैज्ञानिक के लिए उपासना की सम्पूर्ण विधि का समावेश है, प्रचार तथा प्रसार करें, एवं मूर्तिपूजा का योग क्रिया से सम्बन्ध स्थापित करने का जो अनुचित और स्वार्थपूर्ण प्रयत्न किया जा रहा है उसे दूर करने के लिए अग्रसर हों।

## मूर्ति-पूजा शङ्का-समीक्षा

मूर्ति-पूजा कब से चली अथवा किसने चलाई, प्राचीन धर्म ग्रन्थ उसका समर्थन करते हैं या नहीं, इस विवाद में न पड़ कर मूर्तिपूजा के पक्षपाती अपने पक्ष में अनेक युक्तियाँ दिया करते हैं। मूर्तिपूजा में बहुत बड़ी संख्या तो ऐसे व्यक्तियों की हैं जो मूर्तिपूजा में परम्परा से श्रद्धा रखते हैं। आप चाहें तो उसे अन्ध-श्रद्धा कह सकते हैं। परन्तु उनका ऐसा ही विश्वास है। मूर्ति को श्रद्धा प्रीर विश्वास के साथ पूजा करते हैं। मूर्ति-ईश्वर की है अथवा ईश्वरीय शक्ति प्राण प्रतिष्ठा द्वारा उसमें आ गई है, इसमें उनको कोई अभिप्राय नहीं। मूर्ति किस देवता अथवा अवतार की है इससे उन्हें विशेष प्रयोजन नहीं। मूर्ति उनकी प्रार्थना सुनने की शक्ति रखती है या नहीं यह जानने की भी उन्हें विशेष चिन्ता नहीं। वे उसकी पूजा ईश्वर-पूजा समझते हैं। आप उनमें इन विषय में यदि कुछ प्रश्न करें तो वे इस विवाद में पढ़ने में बचने का प्रयत्न करेंगे। उनका विश्वास है या जो कश्चित् कि उन्हें ऐसा विश्वास करा दिया गया है कि तर्क और बुद्धिवाद का धर्म में कोई सम्बन्ध नहीं है। उनके विचार में भक्ति और तर्क दो विरोधी वस्तुएँ हैं जो एक साथ नहीं ठहर सकती। अतः वे इन विषयों के विवाद में पड़ कर अपनी चिन्तन शक्ति का उपयोग नहीं पहुँचाना चाहते।



जो कुछ उनके पूर्वज परम्परा से करते चले आ रहे हैं, उसी से वे सन्तुष्ट हैं। आप यदि उनसे इस विषय पर अधिक विचार विनिमय करने का प्रयत्न करे तो वे सरलता पूर्वक अपनी अनिभिन्नता स्वीकार कर लेंगे। इन महानुभावों की अवस्था उस व्यक्ति जैसी है जो अन्धकार में भटक रहा हो और उसी में सतुष्ट हो। ऐसे लोगों के सम्बन्ध में आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध दार्शनिक प० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय एम० ए० ने बड़ा सुन्दर लिखा है:—

“He is in the dark and wishes to remain in the dark. He does not want light. If you throw any beam of light upon him by interrogation, he resents it and shudders at it. He feels that mental analysis might make him a renegade and therefore he avoids it. Not that he cannot reason. Among idolators you will find best lawyers whose legal acumen is awe inspiring; Professors of logic whose fallacy detecting capacity is unquestionable; Shrewd politicians who clearly see the invisible forces working in the domain of world politics ; traders from whose keen eye no corner of the world market is hidden ; financiers who can successfully combat the dodges of exploiters; astronomers whose knowledge of the heavenly bodies is much more clear than of their own house ; and mathematicians wellversed in the intricacies of mathematical calculations. They are

all intellectuals and you will find them worshipping in temples as devoutly as their uneducated brothers and sisters—side by side with them, and as vaguely too ”

वह (मूर्तिपूजक) अन्धकार में है और उसी में रहना चाहता है। वह प्रकाश का इच्छुक नहीं। यदि आप बातचीत करके इस सम्बन्ध में उसे बतलाना चाहें तो वह उसे रुचिकर न होगी और वह उससे घबरायेगा। उसे भय है कि इस प्रकार की बौद्धिक छानबीन उसे अविश्वामी न बनादे और इसलिये वह उससे बच निकलने का प्रयत्न करता है। इसका कारण यह नहीं है कि वह तर्क-वितर्क की योग्यता नहीं रखता। मूर्तिपूजकों में आपके सर्वोत्तम बकील जो चर्चित करने वाली तीव्र तार्किक बुद्धि रखते हैं, तर्कशास्त्र के उपाध्याय जो सूक्ष्म हेतुभास को हूँड निकालने की क्षमता रखते हैं, तथा चतुर राजनीतिज्ञ जो संसार के राजनीतिक क्षेत्र में गृह्य में गृह्य कार्य करने वाली शक्तियों को सहज में साक्षात् कर लेते हैं, मिलेंगे। उनमें आपको वाणिज्य कुशल व्यापारी जिनकी दृष्टि में संसार को किसी मण्डी का कोई कोना छिपा हुआ नहीं है, अर्थशास्त्री जो गोपक बगैरे को चालों का चक्रवर्तापूर्वक प्रतिकार कर सकते हैं, ज्यामिति-विद्याविशारद जिनको आर्यगन्ध ग्रह, उपग्रहों का अपने गृह से भी कहीं अधिक परिज्ञान है तथा गणितज्ञ जिन्हें गणित के सूक्ष्म तत्त्वों पर पूर्ण-विशारद है, पायेंगे। यह सब बुद्धि विशेषज्ञ हैं। परन्तु इन्हीं मन्दिरों में आप अल्पदृष्ट लोगों के साथ वैसी ही भक्ति-भावना तथा अनिश्चित बुद्धि में मूर्तिपूजा करने देखेंगे।

है। किन्तु मन्दिरों में आप ऐसे लोगों को ठीक उसी ढंग से जो कि सर्व साधारण की विधि है—पूजा करते पायेंगे। उनका समस्त तर्क-वितर्क केवल बाणी तक ही सीमित है, कार्यरूप में उनमें और साधारण मूर्तिपूजक में आप कोई अंतर नहीं देखेंगे। इन लोगों का कार्य ठाली बैठे युक्तियों का ताना-बाना बुनना ही है, जिनके द्वारा यह मूर्तिपूजा को एक दार्शनिक रूप देने का असफल प्रयत्न किया करते हैं।

उपर्युक्त कोटि में कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं, जो मूर्तिपूजा के दोषों को भली भाँति समझते हुए भी स्वार्थवश उसके रक्षार्थ ऐसी अर्थहीन युक्तियाँ प्रस्तुत किया करते हैं। और कभी कभी उसे स्वीकार भी कर लेते हैं, किन्तु जीवित्वा के कारण विवश है। ऐसी ही युक्तियों पर यहाँ इस अध्याय में विचार किया जायगा।

### (१)

“ईश्वर अनन्त है और हम सान्त है। सान्त जीव अनन्त परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को समझने में अशक्त है। मूर्ति द्वारा हम उसे एक सीमित कोटि में ले आते हैं जिससे हमें उसका कुछ आभास हो सके।’

जो परमात्मा अनन्त है वह सदा अनन्त ही रहेगा उसे मूर्ति में परिमित करने को कल्पना ही हास्यास्पद है। जो वस्तु जैसी है वसी ही मानना और जानना ज्ञान है। उससे भिन्न विपरीत अज्ञान है। उपासना का अर्थ ही उस अनन्त की खोज है। मूर्ति द्वारा हम मूर्ति का ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जो हमारे समक्ष है, उस अनन्त परमात्मा का नहीं। यह समझ लेना कि मूर्ति द्वारा हम उस अनन्त का साक्षात् करते हैं, एक भ्रम है। फिर एक मूर्तिपूजक-सदा मूर्तिपूजक रहता है आज तक किसी को भी एक पग आगे बढ़ते नहीं देखा।

यह कहना कि सान्त जीव को अनन्त परमात्मा का परिज्ञान नहीं हो सकता एक साव्दिक जाल है। एव “अनन्त परमात्मा सान्त जीव के जान लेने पर सान्त ठहरेगा” यह भी असत्य है। परमात्मा अनन्त है यह समझ लेना ही उसके अनन्तत्व का पूर्ण ज्ञान है। एक पक्षी आकाश का अन्त पाने की इच्छा से उड़ान भरता है किन्तु जब वह उसे न पाकर थक जाता है तो नमस्कृत है कि वह अनन्त है। ठीक इसी प्रकार जब जीव परमात्मा का अन्त न पाकर थक जाता है तो वह उनके अनन्तत्व का अनुभव करता है। और वही उस अनन्त ब्रह्म का सम्यक् ज्ञान है। उपासना का उद्देश्य परमात्मा को जानना है। उसका उद्देश्य यह कभी नहीं है कि हम उसके सम्बन्ध में सब कुछ जानले। हमें तो उसके सम्बन्ध में उतना ही ज्ञान प्राप्त करना है जितना कि जीव के उत्थान के लिये अपेक्षित है, परमात्मा सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान न हम प्राप्त कर सकने है और न उसकी हमें आवश्यकता है। परमात्मा अनन्त है अतः हम उसे जान ही नहीं सकते, इस प्रकार की असत्य भावना लोगों में उत्पन्न करके उन्हें निहत्साहित करना बड़ा पाप है। हम उस परमात्मा को बुद्धिबल तथा आत्मबल दोनों ही से जान सकते हैं अतः जहाँ यह कहना कि हम उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जान सकते, असत्य है, वहाँ यह भी असत्य है कि हम उसके सम्बन्ध में सब कुछ जान सकते हैं।

( २ )

“ईश्वर निराकार है, निराकार के दर्शन नहीं हो सकते। अतः हम उसकी मूर्ति बना लेते हैं। जिससे हमारी दर्शन-सामना पूरी होसके।”

एव परमात्मा निराकार है तब उसकी साकार मूर्ति बनाई ही कैसे जा सकती है। निश्चय अथवा प्रतिमा किसी साकार वस्तु

ही की हो सकती है। जो वस्तु हमको दिखाई पड़ती है वह भी आकार वाली होती है। अतः जिस आकृति को हम देखते हैं वह मूर्ति की है ईश्वर की नहीं। जो रूप रङ्ग का आकार हमें दिखाई पड़ रहा है वह उस मूर्ति का है, परमात्मा का नहीं। इस प्रकार मूर्ति-दर्शन मूर्ति-दर्शन ही रहेगा, ईश्वर-दर्शन नहीं। जो लोग मूर्ति के दर्शन करके यह समझते हैं कि उन्होंने परमात्मा के दर्शन कर लिये, वह गहरे अन्धकार में हैं। धर्मशास्त्र में जहाँ ईश्वर-दर्शन का उल्लेख है, वहाँ दर्शन शब्द से तात्पर्य ज्ञान चक्षुषो द्वारा दर्शन अर्थात् आत्मबोध से है। चर्म चक्षुषो द्वारा देखने का नहीं। यह बड़े दुःख और आश्चर्य का विषय है कि मनुष्य उस परमात्मा को देखने के लिये उन्मत्त है जिसे वह इन चर्म चक्षुषो से देख नहीं सकता, उसे सुनना चाहता है जिसे इन कानो से सुन नहीं सकता। उपनिषद् उसे “अशब्दम-स्पर्शमरूपमव्ययम्” (कठोपनिषद्) अर्थात् वह शब्द, स्पर्श, रूप का विषय नहीं है और न उसे विभाजित किया जा सकता है, स्पष्ट रूप से उद्घोषित कर रहे हैं। ईश्वर-दर्शन के नाम पर मानव समाज में विभिन्न सम्प्रदायो ने बड़ा भ्रम उत्पन्न किया हुआ है। पुराणों में ऐसी अनेक कथाएँ हैं जिनमें ईश्वर का सशरीर भक्तों द्वारा दर्शन करने का उल्लेख है। अनेक सन्तों के सम्बन्ध में तो ऐसी दन्तकथाओं की कमी ही नहीं। अमुक भक्त अड गया कि वह तो परमात्मा के सशरीर ही दर्शन करेगा, विवश होकर ईश्वर को दर्शन देने पड़े, इत्यादि इत्यादि। इसी प्रकार कुरान में भी मुहम्मद साहब का वुराक घोड़े पर चढ़ कर स्वर्ग में जाकर ईश्वर से वार्तालाप करने का वर्णन है। परन्तु ये समस्त कल्पनाएँ हैं और ईश्वर के वास्तविक रूप को न समझने का परिणाम हैं। अज्ञान लोग इसी भ्रम में पड़कर स्वार्थी लोगों द्वारा ठगे जाते हैं। जब हम अपनी आँख बन्द करके बाह्य जगत्

को देखना वन्द कर देते हैं, उस समय भी हमारे चक्षुओं के देखने की शक्ति विद्यमान रहती है और उनको वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है। निरन्तर अभ्यास से मनुष्य एक धु धला-सा प्रकाश अपने अन्दर देखने लगता है। साम्प्रदायिक गुरुजन इसे ही ईश्वरीय प्रकाश बताकर लोगों को ठगते हैं। इसी प्रकार जब हम कान को अंगुलियो अथवा रई आदि से वन्द कर लेते हैं तो बाह्य शब्द न सुनकर हमारे कान आन्तरिक शब्दों से गूँजने लगते हैं। इसको भी ईश्वरीय शब्द बताकर 'अनहद' आदि न जाने कितने नाम रख लिये हैं। किन्तु वह रूप और शब्द दोनों ही भौतिक हैं। इन्हें ईश्वरीय बताना मनुष्य समाज को पथभ्रष्ट करना है। स्वप्नों के सम्बन्ध में भी लोगों में ऐसा ही अज्ञान फैला हुआ है। जब मनुष्य किसी मूर्ति अथवा चित्र को सन्मुख रखकर उसका निरन्तर अभ्यास करता है तो मूर्ति अथवा चित्र की प्रतिच्छाया-सी प्रायः उसके सन्मुख बनी रहती है और वह उसे स्वप्नावस्था में देखता है। कभी कभी अधिक अभ्यास से मस्तिष्क की एक प्रकार की विकृतावस्था के कारण जागृत दशा में भी वह उनका भान करता है। इसे भी लोग ईश्वर अथवा उस देवता-विशेष के दर्शन का नाम दे दिया करते हैं परन्तु यह सब भ्रम है। ईश्वर के वास्तविक रूप का जब तक जन साधारण में प्रचार नहीं किया जाता, उन प्रकार की मनोवृत्ति स्वार्थी अथवा नृन लोग उत्पन्न करने ही रहेंगे।

### (३)

"यह सत्य है कि मूर्तियाँ ईश्वर को आकृति नहीं हैं, तथापि मन को एकाग्र करने के लिये उनकी उपयुक्तता तथा आवश्यकता है। अज्ञान मन साधारण चक्षु में ही स्थित हो सकती है। निराकार में नहीं। यही कारण है कि हिन्दू लोग राम, कृष्ण आदि की मूर्ति

वनाकर उनकी पूजा करते हैं।” इस सम्बन्ध में ‘मूर्तिपूजा और योग साधन’ अध्याय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। यह भावना सर्वथा निराधार और असत्य है कि मन निराकार में स्थिर नहीं हो सकता, अतएव उसके लिये साकार मूर्ति की आवश्यकता है। समस्त साकार पदार्थ रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गन्ध विषययुक्त होते हैं। और मन की चंचलता का कारण भी यही विषय होते हैं। यदि साकार पदार्थ में मन स्थिर होता तो ससार में सब ही का मन स्थिर हो गया होता। क्योंकि समस्त ससार ही साकार है। परन्तु इसके विपरीत ज्यो-ज्यो मनुष्य सांसारिक पदार्थों में फँस जाता है वैसे ही वैसे इसके मन की चंचलता बढ़ती जाती है। मन की चंचलता तो उस समय दूर होती है कि जब वह निविषय होकर ईश्वर का चिन्तन करता है। अतः मूर्ति कभी भी मन स्थिर करने का साधन नहीं हो सकती। मूर्तिपूजक मूर्ति में सब ही विषयों की कल्पना करते हैं। रूप तो उसमें पार्थिव भाग होने के कारण विद्यमान है ही। जब उसका भोग लगाया जाता है तो ‘रस’ की भी कल्पना कर ही ली। पुष्प चढ़ाना और धूप देने के अर्थ उसमें गन्ध शक्ति को स्वीकार करना है। मूर्ति के हाथ जोड़ना, साष्टाङ्ग दण्डवत् करना तथा उसकी स्तुति प्रार्थना यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि उसके उपासक यह समझते हैं कि वह उनकी इस समस्त क्रिया कलाप को देखती और सुनती है अतएव एक ऐसी वस्तु जिसमें सभी विषयों की कल्पना करली गई है मन को एकाग्र करने का साधन कैसे हो सकती है?

राम और कृष्णादि महान् पुरुष जिनको लोग भूल से ईश्वरावतार समझते हैं, जब जीवित थे तो स्वयं सन्ध्या-वन्दना द्वारा निराकार परमात्मा की उपासना करते थे। अपने निकट रहने वाले बन्धु-बान्धवों की मानसिक चंचलता को दूर करने में

असमर्थ रहे। स्वयं राम का मन सीता के वियोग में अधीर हो गया था। अर्जुन कृष्ण के उपस्थित होते हुए दर्शन मात्र से अपनी मानसिक अस्थिरता को दूर न सका। यादव कृष्ण के नित्य दर्शन करते रहने पर भी विनष्ट हो गये। फिर यह कौन मान सकता है कि उनकी मूर्ति के दर्शन स्पर्श अथवा पूजा से हमारा आत्म उत्थान हो सकेगा। गीता में अर्जुन ने कृष्ण महाराज को सम्बोधन करके कहा है—

चञ्चल हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४ अ० ६

हे कृष्ण ! निश्चय ही मन बड़ा चञ्चल है यह शरीर और इन्द्रियों का मथन कर डालता है। बड़ा बलवान तथा दृढ़ है। उसका निग्रह मेरी दृष्टि में वायु के समान अति कठिन है। श्री-कृष्ण उसका यह उत्तर नहीं देते कि मैं तेरे सम्मुख उपस्थित हूँ मुझ में अपना मन स्थिर करने। उसकी चञ्चलता दूर हो जायगी। किन्तु वे कहते हैं—

असमथ महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।

धन्यामेन स कौन्तेय वैराग्येण न गृह्यते ॥

हे महाबाहो अर्जुन ! इसमें सन्देह नहीं कि मन चञ्चल होने के कारण बड़ी कठिनाई में वश में किया जाता है। यद्यपि धन्यामेन और वैराग्य से उसे वश में किया जाता है। जब साक्षात् कृष्ण के माथ रहने लगे अर्जुन का मन स्थिर नहीं हुआ तो उनकी मूर्ति एक उपासक ने मन को किस प्रकार स्थिर कर गायी है ?



देखने से उनमें व्यापक परमात्मा और उसकी महिमा का ज्ञान नहीं हो जाता ।”

जिस भौतिक पदार्थ की वह मूर्ति बनी है वह निःसन्देह परमात्मा की रचना है किन्तु मूर्ति मूर्तिकार की बनाई हुई है, परमात्मा की नहीं । किसी चित्र अथवा मूर्ति को देख कर हमारा ध्यान उसके बनाने वाले मूर्तिकार पर जाता है जिसकी वह कृति है, किन्तु उस परमात्मा पर नहीं जिसने उन सुन्दर रङ्गों की रचना की है, जिनसे कि यह चित्र बना है और न उस पत्थर अथवा धातु पर जिसके बिना उस मूर्ति का निर्माण असम्भव है । इसका एक कारण है ! हम एक सुन्दर चित्र को देख कर चित्रकार की कला की इसलिये प्रशंसा करते हैं कि उसने उस प्राकृतिक पदार्थ का जिसका वह चित्र है सादृश्य प्राप्त करने की चेष्टा की है । अन्यथा वह चित्र उस पदार्थ विशेष से जिसका कि उसमें चित्रण किया गया है, सुन्दर नहीं होसकता । क्या एक फूल का चित्र वास्तविक फूल की सुन्दरता प्राप्त कर सकता है ? कदापि नहीं । अतः यह अस्वाभाविक नहीं है कि किसी चित्र अथवा मूर्ति को देख कर हमारा ध्यान प्रथम उसके बनाने वाले कलाकार पर जाता है, परमात्मा पर नहीं ।

ईश्वरीय बोध प्राप्त करने के लिये हमें उसको प्राकृतिक रचनाओं का जिनमें मनुष्य ने हस्तक्षेप नहीं किया अवलोकन करना चाहिये । क्या तारागणों से भरा आकाश उसकी महानता का परिचय देने के लिये पर्याप्त नहीं है ? क्या सूर्य, चन्द्र, लोक-लोकान्तर की अद्भुत रचना उनके रचयिता का बोध कराने की क्षमता नहीं रखती ? क्या सुन्दर वृक्षों और रङ्ग-विरङ्ग फूलों से लदे जङ्गल और पर्वत हमारा ध्यान उस विचित्र कलाकार की ओर आकृष्ट नहीं कर सकते ? सत्य तो यह है

कि उस महान् प्रभु का स्मरण कराने के लिये छोटा—सा फूल ही पर्याप्त है। किन्तु यह तभी सम्भव है जब हमारे चर्म चक्षुओं के साथ हमारे ज्ञान चक्षुओं का भी सहयोग हो।

यह युक्ति भी, कि मूर्ति को देखने से उसमें व्यापक परमात्मा की महिमा का ज्ञान होता है, सर्वथा निराधार है। दूध में घृत है किन्तु देखने वाले को यह दिखाई नहीं देता। तिलो में तेल विद्यमान है परन्तु क्या वह किसी को दिखाई पड़ता है? व्याप्य को देख कर व्यापक का इन चर्म चक्षुओं से कभी ज्ञान प्राप्त नहीं होता। उनके लिए ज्ञान चक्षुओं की आवश्यकता है। किन्तु वह तभी सम्भव है जब हमारी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हों। मूर्ति पूजा से हमारी समस्त वृत्तियाँ वहिर्मुख होती हैं, उसके द्वारा ईश्वर का हमें कभी भी बोध नहीं हो सकता। उस प्रभु की महिमा का दिग्दर्शन यदि किसी को करना है तो नित्य उदय होकर समस्त संसार का अवलोकन करने वाले सूर्य को देखे। यदि आप श्रामीण हैं तो वसन्त ऋतु में फूलों से लदे सरसों के खेतों का अवलोकन कीजिए। अगर आप नागरिक हैं तो नगर के किसी उद्यान में जाकर गिने हुए फूलों के अद्भुत रूप रङ्ग का सूक्ष्म निरीक्षण कीजिए। फूल की एक पल्लवी ही उसकी अथवा महिमा का प्रदर्शन करने की क्षमता रखती है। एक साधारण मूर्तियार द्वारा गड़ी गई मूर्ति की भद्दी मूर्ति उसकी महिमा का क्या परिधान करा सकती है।

( ५ )

“यह ईश्वर सर्वव्यापक है ना मूर्ति में भी है। हम मूर्ति को पूजा नहीं करते अर्थात् उसमें व्यापक परमात्मा की पूजा करते हैं।”

उपर्युक्त युक्ति केवल कथन मात्र है। एक मूर्ति पूजक का व्यवहार इसके सर्वथा विपरीत होता है। यह सत्य है कि ईश्वर सर्वव्यापक होने के कारण मूर्ति में भी है। परन्तु व्यापक होने से प्रत्येक व्याप्य वस्तु पूजनीय नहीं हो जाती। परमात्मा फूल में है फिर उसे मूर्ति पर क्यों चढ़ाया जाता है? जल में है फिर स्नान क्यों कराते हो? चन्दन में है फिर मूर्ति पर चन्दन क्यों लगाते हो? भोजन में है—भोग क्यों लगाते हो? हाथों में है हाथ क्यों जोड़ते हो? अतः एक मूर्तिपूजक का लक्ष्य मूर्ति में व्यापक परमात्मा की उपासना होता तो वह उपर्युक्त समस्त क्रियाकलाप का आश्रय न लेता। वह मूर्ति को ईश्वर समझकर उसकी पूजा करता है उसमें व्यापक परमात्मा की नहीं। मूर्ति-पूजा के जन्मदाता स्वयं पुराण इस युक्ति का स्थान-स्थान पर खण्डन करते हैं। भविष्य पुराण मध्यम प० अ० ७ का निम्न श्लोक देखिए:—

वासुदेवाग्रतश्चापि रुद्रमाहात्म्यवर्णनम् ।  
 रुद्राग्रे वासुदेवस्य कीर्तन पुण्यवर्धनम् ॥  
 दुर्गाग्रे शिवसूर्यस्त वैष्णवाख्यानमेव च ।  
 य. करोति विमूढात्मा गार्दभी योनिमाविशेत् ॥

अर्थ स्पष्ट है—जो मनुष्य वासुदेव की मूर्ति के आगे शिव की स्तुति करता है और शिव के आगे वासुदेव का कीर्तन करता है, दुर्गा के आगे शिव, सूर्य या विष्णु की स्तुति करता है वह मूर्ख गधे की योनि में जाता है। यदि मूर्ति पूजा का उद्देश्य मूर्ति में व्यापक ईश्वर की पूजा होता तो एक देवता के समक्ष दूसरे देवता की स्तुति-प्रार्थना का निषेध पुराण न करते।

पूजा का उद्देश्य जीवात्मा और परमात्मा का मेल है। इसी मेल का नाम योग है। किन्तु मिलाप वही हो सकता है जहां

दोनों विद्यमान हैं, मूर्ति में परमात्मा अवश्य है किन्तु उपासक का जीवात्मा नहीं। ऐसा स्थान जहाँ जीव और ब्रह्म दोनों ही उपस्थित हो केवल मनुष्य का हृदय है। इसी हृदय मन्दिर में जीव उस ब्रह्मा का साक्षात् कर सकता है। वेद और उपनिषद् इसी सत्य का निरूपण करते हैं।

वेतस्तत्पश्यन् मनना गुहायाम् । यजु० ३२ । ८

विद्वान् पुरुष परमात्मा को हृदय में देखते हैं।

तमात्मन्वमनुष्यन्ति धीरास्तेषा सुखशाश्वतं नेतरेषाम् । १२ पञ्चम  
वल्नी कठोपनिषद् ।

जो धीर पुरुष जीवात्मा में स्थित परमात्मा को देखते हैं, उनको चिरकाल तक रहने वाला सुख प्राप्त होता है, अन्यो को नहीं।

### ( ६ )

'विद्वान् और ज्ञानियो के लिये चाहे मूर्ति पूजा की उपयुक्तता न हो परन्तु जन साधारण के लिये उसकी आवश्यकता है। पाश्चात्य शिक्षा एवं सभ्यता के प्रसार से शिक्षित हिन्दू युवक अपने ही ईश्वर और धर्म ने विमुक्त होता चला जा रहा है। यदि मूर्ति पूजा और मन्दिरों को हटा दिया गया तो हिन्दुओं की ईश्वर और धर्म में अविशिष्ट श्रद्धा और भी नष्ट हो जायगी और लोग नास्तिक बन जायेंगे। अतः मूर्तिपूजा को जीवित रहने देने की आवश्यकता है। न होने से कुछ होना अच्छा है।'

मूर्ति पूजा को जन साधारण के लिये उपयुक्त बनाना और उसके लिए उचित नीतिन रखने की युक्ति एक उल्टी बात है। मूर्तियों को मिथ्या न देखकर मूर्तियों को स्तवना एवं रोग की निवृत्ति न करके उन्हे स्तवना करने का प्रयत्न यदि उचित है तो इन युक्तियों को भी धीरे-धीरे स्वीकार किया जा सकता है। जन साधारण में धार्मिक

भावनाओं का अभाव नहीं है। मनुष्य की स्वभाव से ही धार्मिक प्रवृत्ति होती है। यदि उन्हें ईश्वरोपासना की सच्ची विधि का परिज्ञान करा दिया जाय तो वे धीरे-धीरे उन्नतावस्था को प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु पाषाण, पण्डे और पुजारी न जाने कितनों का स्वार्थ इस कार्य में बाधक है। यह लोग इन्हें अन्धकार में रखने का प्रयत्न करते रहते हैं। उन्हें उपदेश दिया जाता है कि मूर्ति के हाथ जोड़ो और अपना चढावा उसके अर्पण करदो। बस यही पूजा है। इसी उद्देश्य से तीर्थों के पण्डे सैकड़ों मील से यात्रियों का पीछा करते हैं। क्या इसी का नाम धर्म है जिसके लिये मूर्ति पूजा को जीवित रखने की आवश्यकता है? क्या इसी प्रकार के ईश्वर-विश्वास से हिन्दू समाज की रक्षा हो सकती है?

ईश्वरोपासना और धर्म का उद्देश्य मनुष्य की आत्मा और बुद्धि को ऊँचा उठाना है। परन्तु मूर्ति पूजा एक ऐसी विधि है जो मनुष्य समाज को सदा मूर्ख बनाए रखना चाहती है। यह उपासक को अन्ध विश्वासी और भीरु बना देती है। यही कारण है कि शताब्दियों के अज्ञान और अन्धकार के पश्चात् भी जन-साधारण का जीवन मूर्तियों के निरन्तर सम्पर्क में रहने वाले पण्डे पुजारियों से आज श्रेष्ठतर है। सबसे बड़ी हानि जो एक मूर्तिपूजक कर रहा है, उसकी अपनी निजी हानि है। वह एक असत्य मार्ग पर जा रहा है और उसी में सन्तुष्ट है। वह समझता है कि मैं ईश्वर की पूजा कर रहा हूँ और अपने समस्त जीवन को इसी अन्ध विश्वास में व्यतीत कर देता हूँ। वास्तविक हानि जो इससे हो रही है वह सब साधारण की है। शिक्षित समुदाय अपने बुद्धि-बल से इन पण्डों और पुजारियों से अपनी रक्षा करते रहते हैं। किन्तु हमारा अशिक्षित समुदाय ही है जो इनके द्वारा बुरी तरह लूटा जाता है। क्या उनके लिए

मूर्तिपूजा का यही उपयोग है ? मुसलमान, ईसाई, मूर्तिपूजक नहीं हैं। क्या इनका साधारण जन-समाज नास्तिक है ? सत्य तो यह है कि इनकी आस्तिक भावना हिन्दुओं से कहीं अच्छी है। मूर्तिपूजा स्वयं नास्तिकता है। अतः यह समझना कि इनके द्वारा आस्तिक भावना जीवित रह सकती है एक दूसरा भ्रम है। जिन प्रकार एक राज सत्ता की विद्यमानता में दूसरी सत्ता की आघोचना एवं आज्ञा पालन राज विद्रोह है, ठीक उसी प्रकार ईश्वर की उपस्थिति में जड़ मूर्ति को ईश्वर समझना और पूजना ईश्वर विद्रोह है, और उसी का दूसरा नाम नास्तिकता है। यदि जिसीत युवक समाज आज ईश्वर और धर्म से उधर कर नास्तिकता की ओर जा रहा है तो उसका कारण भी उसी प्रकार के कल्पित ईश्वर और उसकी पूजा का विधिविधान है।

हमने ईश्वर और धर्म के कल्पित और असत्य रूप का प्रचार किया, यह उसी का फल है। मूर्तिपूजा से हिन्दू जाति को जो हानि हुई है उनका वर्णन हमने इस पुस्तक में स्थान-स्थान पर किया है। अतः हम यहाँ उनकी पुनरावृत्ति नहीं करना चाहते। यह ठीक है कि न होने से कुछ होना अच्छा है किन्तु उसके धोनिष्ठ-धनीचित्य पर भी तो हमें विचार करना है। यदि हमसे हमारा धनिष्ठ होता है तो हमने न होना कहीं अच्छा है। कोई हमनिष्ठ किसी विपत्ति पदार्थ को नहीं चाएगा, क्योंकि हमसे पान पाने के लिये कोई सामग्री नहीं थी। और यदि वह मिला करता है तो उसकी मृत्यु निश्चित है। मूर्तिपूजा एक उल्टा मार्ग है। हम पर नज़र कर हम अपने अभीष्ट को कभी प्राप्त नहीं कर सकते। यह हमसे अपने निरिष्ट ध्यान से सदा दूर ही ले आयेगी।

(७)

“मूर्ति चाहे हम ईश्वर की न मानें किन्तु यदि हम उसमें ईश्वर की भावना करले तो फल अवश्य मिलेगा। मनुष्य की जैसी भावना होती है उसी के अनुसार उसे फल मिलता है। कहावत भी है “मानो तो देव नहीं तो पत्थर है।”

भावना की भी हिन्दुओं में बड़ी विचित्र युक्ति है जिसे आप सर्वत्र सुनेंगे। जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही मानना और जानना ‘भाव’ है। इससे भिन्न अभाव। भावना मात्र से किसी वस्तु की वास्तविकता नहीं बदली जा सकती। चूने के पानी में जानकर या न जानकर दूध की भावना करली जाय तो क्या उससे मक्खन निकल सकता है? बालू में शक्कर की भावना करने से क्या मुंह मोटा हो जायगा? इसी प्रकार जल में अग्नि की भावना करने से हमारा शीत कभी दूर नहीं हो सकता। संसार का प्रत्येक मनुष्य सुख की भावना करता है, दुःख की कभी कोई नहीं करता किन्तु फिर भी लोग दुःख दिखाई पडने हैं। प्रायः देखा जाता है कि बहुत से रोगी भूल से अपने रोग की औषधि के स्थान पर विषपान कर जाते हैं फलतः उनकी मृत्यु हो जाती है। औषधि में उनकी भावना स्वस्थ होने की थी पुनः मृत्यु क्यों हुई? प्रत्येक वस्तु का गुण-दोष विपरीत भावना करने पर भी उससे दूर नहीं होता। पत्थर में देवता की भावना करने पर भी वह पत्थर रहेगा। न उसमें चेतना आ सकती है और न वह हमारा हित अथवा अनहित कर सकता है।

देश के सहस्रो मन्दिरों और मूर्तियों का विध्वंस इसका जीता-जागता उदाहरण है। प्रत्येक हिन्दू की यह भावना थी कि यह देवता हैं, और हमारी रक्षा करेंगे, परन्तु परिणाम इसके विपरीत निकला। मूर्तियाँ तोड़ी गईं, मन्दिर लूटे गए, और हमारी जो दुर्दशा हुई उसका इतिहास साक्षी है। किन्तु हमारे विश्वास ने हमारी कुछ भी सहायता नहीं की।

“मूर्ति को चाहे ईश्वर समस्त पूजा न की जाय, किन्तु शान्त, वीतराग और महापुरुषों की मूर्ति देखकर मन पर प्रभाव पड़ता है और चित्त को शान्ति मिलती है। यही कारण है कि मूर्ति अथवा मन्दिर को देखते ही हमारे अन्दर श्रद्धा और भक्ति की भावना जागृत हो जाती है।”

किसी मूर्ति को देखकर हम पर उसका प्रभाव उसी समय पड़ता है, जब पूर्व से ही हमारे मन में उसके प्रति कुछ संस्कार विद्यमान हों। यह संस्कार उसी समय उत्पन्न हो सकते हैं, जब उसके सम्बन्ध में कुछ परिचय हो चाहे वह पढ़ने से हो अथवा सुनने से। इन्हीं संस्कारों से जो भाव उत्पन्न होते हैं, श्रद्धा अथवा अश्रद्धा उसी का परिणाम होता है। हमारे यदि भाव अच्छे हैं तो हम श्रद्धा की दृष्टि से देखेंगे, और यदि बुरे हैं तो अश्रद्धा उत्पन्न होगी। हिन्दू जिस मूर्ति को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं, एक मुसलमान या ईसाई उसी को अश्रद्धा और घृणा की दृष्टि से देखता है। यदि केवल मूर्ति देना ही मन पर प्रभाव पड़ता तो मुसलमान भी प्रभावित होने। किन्तु ऐसा नहीं होता। हिन्दू परिवारों में जन्म से ही इन मन्दिर और मूर्तियों के प्रति श्रद्धा और भक्ति के भाव उत्पन्न कर दिये जाते हैं। नगरों में सरकारी उद्यानों में अग्रेज लड़कों की मूर्तियाँ लगी हुई हैं किन्तु उन्हें देख कर कोई हिन्दू शायद नहीं जोड़ता और न साष्टाङ्ग दण्डवत् करता है। न उसे देना ही उनके हृदय में श्रद्धा और भक्ति ही उत्पन्न होती है। यदि एक हिन्दू बालक में इसी प्रकार संस्कार न दाले गये होते तो मुझ, निर्गुण और निःसहाय पशुओं के रक्त से रञ्जित काली की विचित्र मूर्ति उनके हृदय में गान्धि और पूजा के अतिरिक्त कोई भी अन्य भाव उत्पन्न नहीं करती। भय की भयानक



मूर्ति, शिवलिङ्ग की लज्जास्पद आकृति भय और लज्जा के अतिरिक्त क्या कभी श्रद्धा और भक्ति के भाव उत्पन्न कर सकेगी ? अतः ये हमारे सस्कार हैं, जो एक मूर्ति अथवा मन्दिर को देख कर हमारे अन्दर श्रद्धा और भक्ति का भाव उत्पन्न करते हैं ।

( ६ )

“मूर्तिपूजा अपने महान पूर्वजों की पूजा है । क्या महा-पुरुषों की पूजा भी पाप है ? सभी जातियाँ अपने पूर्व महा-पुरुषों की किसी न किसी रूप में पूजा करती हैं । मुसलमान और ईसाइयों में भी इस प्रकार की पूजा प्रचलित है । इससे सिद्ध है कि मूर्तिपूजा मनुष्य के हृदय में बीजरूप से विद्यमान है, और उसे उससे सर्वथा दूर नहीं किया जा सकता ।”

इस पर विचार करने से पूर्व मूर्ति और पूजा इन दो शब्दों को भली भाँति समझ लेना चाहिये । आकार व शरीर वाली वस्तु को मूर्ति कहते हैं । उसके दो प्रकार हैं—जड़ या चेतन । समस्त जीवधारी चेतन मूर्तियाँ हैं और चेतना रहित जड़ पदार्थ जड़ मूर्तियाँ हैं । पूजा का अर्थ आदर—सत्कार है । व्यावहारिक रूप में इसके अर्थ उचित व्यवहार और रक्षा के भी हैं । अतः जब हम यह कहते हैं कि माता, पिता, गुरु आदि हमारे पूज्य हैं, अथवा हमें उनकी पूजा करनी चाहिए, तो इसका अभिप्राय उनकी अन्न जल वस्त्रादि से सन्तुष्टि तथा सेव-सुश्रूषा एवं आज्ञापालन द्वारा उन्हें सुखी रखना है । किन्तु एक जड़ वस्तु की पूजा उनकी उचित रक्षा एवं व्यवहार ही है, उसके हाथ जोड़ना, स्तुति करना अथवा भोग लगाना नहीं, क्योंकि न वह सुनती है, और न खाती है । इसलिए एक मूर्ति की चेतन की भाँति पूजा करना एक ज्ञानशून्य कृत्य है । हिन्दू गङ्गा नदी की आरती उतारते हैं, स्तुति करते हैं,

जल में डूब चढ़ाकर उसे नष्ट करते हैं। रेलगाड़ी जब पुल पर से जाती है तो उसमें से पैसे फेंकते हैं किन्तु बाढ़ आने पर वही गङ्गा उनके गामों के ग्राम बहा ले जाती है। अङ्गरेज लोगों ने हिन्दुओं की भाँति उसकी पूजा नहीं की किन्तु नहर तथा दिजली आदि बना कर उसका सदुपयोग किया, और लाभ उठाया है। अब कहिए गङ्गा ने किस पर कृपा की ? हिन्दुओं को प्रचलित मूर्तिपूजा को पूर्व पुरुषों की पूजा बनाना या समझना या तो इन दोनों के भेद को न समझना है, अथवा वाक् छल है। पूर्व पुरुषों की पूजा अथवा उनकी मूर्ति वा चित्र का यथायोग्य व्यवहार कोई पाप नहीं है। आप उनके चित्रों से अपने स्थानों को मुनज्जित कीजिए, उनकी मूर्तियाँ ( Statues ) रखिये अथवा सार्वजनिक स्थानों पर उनकी स्थापना कीजिए जिमने उनको देखकर उनके आदर्श जीवन एवं सदुपदेशों की स्मृति हो सके और उनके पदचिन्हों पर चलने का प्रोत्साहन मिल सके। किन्तु उनके प्रति चेतन जैसा व्यवहार—मानो जीवित हैं—अथवा उन्हें ईश्वर समझ बैठना और ईश्वर के स्थान में पूजन अज्ञान और नास्तिकता है। मुसलमान मूर्ति पूजा के विरोधी होने हुए भी कावा के लिये पत्थर ( लहसुन ) को चूमते हैं और इसके प्रति आश्चर्यचकित रहते हैं। अरब के मुसलमान भी जैसा एवं जैसा या सुना है, मूर्ति पूजक थे। उनकी उपासना विधि ( नमाज ) में फिर भूताना ( नह्य ) यह सिद्ध करता है कि केवल उनके नामों को चिन्ता नहीं है किन्तु प्रकार पभी जाता है। इस भाँति उनके पुराने मन्कार विमो न किन्ती रूप से चले आ रहे हैं। इसी प्रकार उन्होंने जीवन-मृत्यु के प्रश्न का भी यही मन्कार दे समझते हैं कि मृत्यु के पश्चात् शरीर के साथ जीव भी चले आते हैं और यही समझ कर वे अपने

पूर्वजों की कब्रों पर स्तुति और प्रार्थना करते हैं। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी मुसलमान एकेश्वरवादी हैं, और ईश्वर के स्थान पर किसी दूसरे की पूजा नहीं करते।

रोमन कैथोलिक ईसाई, ईसा, मरियम आदि की पूजा करते हैं किन्तु प्रोटेस्टैण्ट ईसाई उसे ईसाई धर्म के विरुद्ध समझते हैं। ईसा ने स्वयं मूर्तिपूजा का खण्डन किया है। कुछ योरुप-निवासियों में पुराने मूर्तिपूजा के संस्कार जीवित रहे और अन्य देवताओं के स्थान पर उन्होंने ईसा और उसकी माता मरियम की पूजा प्रचलित कर दी।

जब किसी मनुष्य वा जाति के हृदय में प्रबल कुसंस्कार घर कर लेते हैं तो उन्हें निर्मूल करना कोई सरल बात नहीं है। किन्तु बुराई, बुराई ही है। पुरानी होने से उसके दोष गुणों में परिणत नहीं हो सकते। किसी रोग की भयङ्करता इसलिये कम नहीं हो जाती, क्योंकि उससे बहुत से मनुष्य पीड़ित हैं, ऐसा रोग तो महामारी है, और उसका शीघ्र से शीघ्र उन्मूलन होना चाहिए। योरुप, अमरीका आदि पाश्चात्य देशों में बड़े-बड़े नगरों के सार्वजनिक स्थानों में उनके महापुरुषों की जिस भांति मूर्तियाँ स्थापित की गई हैं, वही महापुरुषों की मूर्तियों की उपयुक्त पूजा है। हमारे देश में भी देश के नेताओं की इसी प्रकार की मूर्तियाँ स्थापित करने की प्रथा चल पड़ी है। किन्तु यह उसी अवस्था में लाभप्रद है जब हम उनका उचित उपयोग करें। यदि राम कृष्णादि महान् पुरुषों की मूर्तियों की तरह इनका भी दुरुपयोग हुआ तो इससे भी हानि ही होगी। महात्मा गान्धी की मूर्ति और समाधि का कुछ ऐसा ही दुरुपयोग महात्मा जी की इच्छा और सिद्धान्तों के विरुद्ध उनके भक्तों द्वारा, जिनमें हमारे देश के बड़े-बड़े नेता भी हैं, प्रारम्भ हो चला है जिसे रोकने की बड़ी आवश्यकता है।

“जब महापुरुषों की मूर्तियाँ देखकर हमें उनकी स्मृति हो जाती है तो राम, कृष्णादि की मूर्तियाँ देखकर जो ईश्वर के अवतार थे-परमात्मा की स्मृति क्यों नहीं हो सकती ?”

इसी पुस्तक में अन्यत्र यह सिद्ध किया जा चुका है कि न ईश्वर अवतार लेता है और न इसकी आवश्यकता है। राम, कृष्णादि महापुरुषों की मूर्तियाँ स्थापित करने में तो कोई हानि नहीं, किन्तु उन्हें जीवित पुरुषों की भाँति पूजना अथवा उनमें ईश्वर की भ्रान्ति रखना अज्ञान और पाखण्ड है। इससे देश और जाति की हानि है. लाभ कुछ नहीं।

“मूर्तिपूजा ईश्वर-प्राप्ति की प्रथम सीढ़ी है।”

यह उपमा भी भ्रमपूर्ण है। सीढ़ी पर चढ़कर मनुष्य उत्तरोत्तर ऊँचा उठता है। परन्तु मूर्तिपूजा जैसा कि हम सिद्ध कर चुके हैं—पतन की ओर ले जाती है। इसके अतिरिक्त एक मूर्तिपूजक आजीवन मूर्तिपूजक ही बना रहता है। यह बात हमारी है कि उनका विश्वास मूर्तिपूजा से किसी प्रकार न्यय हट जाय अथवा टूटा दिया जाय। चेतन प्राणिमात्र की निष्काम सेवा, विज्ञान प्राप्त पुरुषों का आदर-सत्कार तथा सत्सङ्ग एवं धर्म नियमादि का पालन तो ईश्वर-प्राप्ति की सीढ़ियाँ हो सकती हैं किन्तु मूर्तिपूजा तो एक गहरी गार्ह है जो मानव समाज को संशय की ओर ले जाती है। यह एक ऐसा घन विश्वास है जो मानव-हृदय को पापानु एवं बुद्धि को ज्ञानमून्य बना देता है।

‘वेदान्त का सिद्धान्त है कि सारा ही संसार भ्रम है। जब

सारा ही संसार ब्रह्म है पुनः मूर्ति को ब्रह्म मानने में क्या दोष है?"

यह सारा जगत् ब्रह्म है यह सिद्धान्त वेदान्त-दर्शनकार का नहीं है। वह जीव और ब्रह्म के भेद का बल पूर्वक प्रतिपादन करता है। हाँ, श्री शङ्कराचार्य का ऐसा मत था और उन्हीं के अनुयायी जीव-ब्रह्म की एकता पर विश्वास रखते हैं। श्री माधवाचार्य ने अपने वेदान्त भाष्य में इस सिद्धान्त का प्रबल खण्डन किया है। इस विषय का हमारे प्रस्तुत विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस सिद्धान्त को मान भी लिया जाय तो उपास्य और उपासक में जब भेद ही नहीं तो उपासना किसकी और क्यों? मूर्ति को ब्रह्म मानने और न मानने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इस पर भी यदि इस सिद्धान्त के मानने वाले उपासना की आवश्यकता का अनुभव करते हैं तो श्री शङ्कराचार्य ने मूर्ति पूजा का स्वयं खण्डन किया है। अतएव इस युक्ति का दोनों ही प्रकार से कोई महत्व नहीं रहता।

( १३ )

“जिस प्रकार हमने निराकार अक्षरों के लिए साकार अक्षरों की कल्पना करली है और जिस भाँति हम रेखागणित के आकार रहित बिन्दु की कल्पना एक सूक्ष्म बिन्दु लगाकर कर लेते हैं उसी प्रकार यदि निराकार ईश्वर के लिये साकार मूर्ति की कल्पना करले तो इसमें क्या हानि है?”

कल्पना किसी वस्तु के अभाव अथवा अनुपस्थिति में की जाती है। साकार अक्षरों की कल्पना केवल निराकार अक्षरों या शब्दों के अभाव में उनकी पूर्ति के लिए की जाती है। यदि हमारे शब्द सर्वत्र और सदा सुने जाते तो हमें न साकार

अक्षरों की कल्पना की आवश्यकता थी, और न लेखनकला की। परमात्मा सर्वव्यापक और सार्वकालिक है, अतः उसके लिये किसी वस्तु की कल्पना का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि कहीं कि दिखाई नहीं पड़ता इसलिए कल्पना करने की आवश्यकता है। परन्तु केवल दिखाई न पड़ने से किसी वस्तु का अभाव नहीं हो जाता। आकाश और शब्द दोनों ही दिखाई नहीं पड़ते परन्तु उनका अभाव नहीं है। कल्पित वस्तु में और जिन वस्तु की वह कल्पना है कुछ सादृश्य होना चाहिए। अक्षर-विज्ञानवेत्ता जानते हैं कि साकार अक्षर निर्गुण अक्षरों की मूर्ति नहीं है अपितु उच्चारण के समय जो श्रोत्र आदि की आकृति बनती है उसकी ही कल्पना है और वर्तमान समस्त भाषाओं की वर्णमालाएँ उन्हीं का अपभ्रंश रूप हैं। उन्हीं प्रकार एक बिन्दु उसी समय तक रेखागणित के बिन्दु के सदृश समझा जायगा जब वह सूक्ष्म से सूक्ष्म हो। एक बड़े गोलाकार बिन्दु को कभी कोई बिन्दु कहने या मानने के लिए उद्यत नहीं होगा। एक हाथी के बृहदाकार की आप पहाड़ में उपमा दे सकने हैं किन्तु एक जलाशय में उसकी कल्पना नहीं की जा सकती, यद्यपि दोनों ही नाकार हैं। ईश्वर और पापान्ना-मूर्ति में विगमना भी सादृश्य नहीं है। मूर्तियाँ प्रायः निर्गुण ईश्वर की कल्पना करके बनाई भी नहीं गईं, अर्थात् मनुष्यों को ईश्वरवत्तान समझ कर उनकी कल्पना कर ली गई है। निर्गुण शब्द श्रवण में नहीं देखा जाता, अर्थात् श्रवण में सुना जाता है। सुविधा के लिए कानों के विषय की नाकार अक्षरों की कल्पना द्वारा श्रवणों का विषय बना लिया गया है। परन्तु जो परमात्मा किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है उसे समझने के लिए उसे जिस इन्द्रिय का विषय बनाया जाय ? वह जो विषय अनुभूति की ही वस्तु रह जाती है।

( १४ )

“जिस प्रकार काल के निराकार होने पर भी साकार घड़ी से निराकार घड़ी का ज्ञान हो जाता है, इसी प्रकार मूर्ति द्वारा परमात्मा का ज्ञान हो सकता है।”

घड़ी एक यन्त्र है जिसके द्वारा हम सूर्य के सम्मुख पृथ्वी के एक बार घूमने से उत्पन्न होने वाले दिन और रात्रि के समय को माप करके उसका दिभाजन कर देते हैं। घड़ी न काल की मूर्ति है और न जब तक सूर्योदय और सूर्यास्त के अनुसार उसे ठीक ठीक मिलाया जाय, काल का ज्ञान ही करा सकती है। बन्द घड़ी द्वारा समय-ज्ञान तो दूर, हम उससे समय का माप भी नहीं कर सकते। अतः घड़ी को किसी अंश में सूर्य की मूर्ति तो कह सकते हैं, क्योंकि उसका सारा क्रम सूर्य पर निर्भर है परन्तु वह निराकार काल की मूर्ति कदापि नहीं।

( १५ )

“जैसे मानचित्र (नक्शा) को देख कर पहाड़ तथा नदी का ज्ञान वालको को हो जाता है इसी प्रकार मूर्ति को देख कर ईश्वर का ज्ञान हो जाता है।”

पहाड़, नदी, पृथ्वी आदि सभी साकार वस्तुये हैं। मानचित्र उनका लघु रूप है। यह असत्य तथा असभ्य कल्पना नहीं। किन्तु परमात्मा निराकार है, ऐसी अवस्था में उसकी मूर्ति अथवा चित्र की कल्पना नहीं की जा सकती।

( १६ )

“शब्द निराकार है किन्तु उसे ग्रामोफोन के रिकार्ड में भर कर मूर्तिमान बना लिया जाता है। इसी भाँति निराकार परमात्मा की भी मूर्ति क्यों नहीं बनाई जा सकती ?”

शब्द, चाहे हम उसे कण्ठ से व्यक्त करे चाहे ग्रामोफोन के

(Sound box) शब्द यंत्र और रिकार्ड की सहायता से, वह निराकार ही रहेगा। अन्तर केवल प्रकार का है। मनुष्य उसका उच्चारण जहाँ कण्ठादि की सहायता से करता है वहाँ ग्रामाफोन में कुछ यंत्रों की सहायता से किया जाता है परन्तु हे दोनों ही निराकार।

( १७ )

“जैसे एक कागज के टुकड़े अथवा धातु के सिक्के पर किसी राजा, महाराजा का चित्र बना देने से वह मूल्यवान् बन जाता है, इसी प्रकार एक मूर्ति परमात्मा की मान लेने पर वह पूजनीय हो जाता है।”

एक करेन्सी नोट, हुण्डी अथवा सिक्का इसीलिये मूल्यवान् नहीं हो जाता कि उस पर किसी सम्राट् का चित्र है अथवा मुहर वा हस्ताक्षर है। उसका मूल्य राज्य की साख पर निर्भर है। राज्य उस मूल्य को चुकाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है। यही कारण है कि जिस प्रकार एक व्यापारी का दिवाला निकल जाने पर उसकी हुण्डी एक नष्ट कागज का टुकड़ा रह जाती है, ठीक इसी प्रकार राज्य के परिवर्तन पर उस करेन्सी नोट का कुछ भी मूल्य नहीं रहता। परमात्मा निराकार है उसकी कोई आकृति वा मूर्ति ही नहीं। अतः जिस प्रकार ज्ञानी सिक्का प्रचलित करने पर राज्यदण्ड मिलता है उसी प्रकार क्या मूर्तिपूजा दण्डनीय नहीं ठहरते ?

( १८ )

“मूर्ति परमात्मा वा शरीर है, शरीर की पूजा करने से शरीर प्रसन्न होता है, अतः मूर्तिपूजा ठीक है।”

व्याख्यान, “चेष्टेन्द्रियार्थाश्रय शरीरम्”—क्रिया, इन्द्रिया, अर्थ इनके आश्रय को शरीर बताना है। मूर्ति में कोई भी शरीर



का लक्षण नहीं। यदि यह कहो कि जिस प्रकार ब्रह्माण्ड को परमात्मा का शरीर माना गया है उसी प्रकार मूर्ति भी परमात्मा का शरीर है, परन्तु ब्रह्माण्ड को शरीर बताना केवल एक रूपक अलङ्कार है, वास्तविकता नहीं। केवल व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से मूर्ति परमात्मा का शरीर नहीं हो सकती अन्यथा हमारा शरीर भी परमात्मा का शरीर हो जायगा। तब हम अपने शरीर की ही पूजा करके परमात्मा को प्रसन्न कर सकते हैं, मूर्ति की आवश्यकता ही नहीं रहती। या फिर समस्त पदार्थ ही परमात्मा के शरीर है, मूर्ति का भगडा ही व्यर्थ है।

“जैसे अग्नि के निराकार और साकार दो रूप हैं उसी प्रकार परमात्मा के भी निराकार और साकार दो रूप हैं। इसीलिए निराकार परमात्मा की निर्गुण और साकार परमात्मा की सगुणोपासना की जाती है। सगुणोपासना का ही दूसरा नाम मूर्तिपूजा है।”

अग्नि का स्वाभाविक गुण रूप है। जिसका रूप स्वाभाविक गुण हो वह कभी भी निराकार नहीं हो सकता। शास्त्रों में अग्नि की दो अवस्थाएं वर्णन की हैं एक उद्भूत दूसरी अनुद्भूत। जब अग्नि के अवयव अलग-अलग हो जाते हैं तो दिखाई नहीं देते। किन्तु जब रगड़ आदि से प्रकट होते हैं तो दिखाई देते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वे दिखाई न देने के कारण निराकार हैं। दूध में घी दिखाई नहीं पड़ता और न तिलों में तेल दीखता है—विलीने से अथवा पेरने से उनमें घी व तेल प्रकट हो जाता है। तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि घी व तेल पहिले नहीं था या पीछे उत्पन्न हो गया। जो वस्तु निराकार है वह सदा निराकार ही रहेगी। पुनः जैसा कि पूर्व लिखा



की हृदय मे धारणा वा चिन्तन करते है जिससे हम भी उन गुणो को धारण कर सके तो उसे सगुणोपासना कहते हैं । इसी प्रकार जब हम ईश्वर के अजर, अमर, अनादि, अनन्त आदि ऋणात्मक गुणो को हृदय मे धारण करते है, तो वह निर्गुणोपासना है । निर्गुणोपासना के प्रभाव से उपासक मे निर्गुणता आती है । यदि ईश्वर अमर है तो वह भी अमर हो जाता है । उसके प्रभाव से उपासक के अन्दर जैसा कि सगुणोपासना मे होता है, कुछ आता नही अपितु कुछ जाता है । किन्तु इस जाने से उसे आनन्द और शान्ति प्राप्त होती है । कठोपनिषद् के निम्न मन्त्र मे यही भाव स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त किये है —

अशब्दमस्पर्शं रूपमव्ययम् तथाऽरसन्नित्यमगन्धवच्च यत् ।

अनाद्यनन्तम्महत पर ध्रुव निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते । कठ. १।२।१५ ॥

अर्थात् ईश्वर अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अगन्ध, अनादि, अनन्त है । इस प्रकार उस महान् परम ध्रुव का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट जाता है ।

( २० )

“लडकियाँ पहले गुडिया खेलती हैं । परन्तु विवाह होने पर उसे छोड़ देती है । ऐसे ही पहले हम मूर्तिपूजा करते है । जब ईश्वर मिल जायगा तो छोड़ देंगे ।”

‘तुलसी प्रतिमा पूजिवी, है गुडिया को खेल ।

जब पहुँचे ससुराल मे, देय पिटारे मेल ॥”

जिस प्रकार मूर्तिपूजा ईश्वर-प्राप्ति का साधन समझा जाता है, उसी प्रकार गुडियो का खेल विवाह का साधन नही है । यदि ऐसा होता तो सब माता-पिता लडकियो के विवाह की

निम्ना ने मुक्त हो जाते । गुड़ियों का खेल वास्तव में बच्चों के मन बहलाव की वस्तु है । क्या मूर्तिपूजा भी मन बहलाव की वस्तु है ? उन कन्या के लिये क्या कहा जायगा जो बूढ़ी हो गई है किन्तु गुड़ियों से ही खेलती है । लोग बूढ़े हो जाते हैं किन्तु उनमें गुड़िया स्वी मूर्तिपूजा नहीं छूटती । सत्य तो यह है कि मूर्तिपूजा का सम्बन्ध धन और समय इसी खेल में व्यतीत हो जाता है, और वह अभागा यह ही समझता रहता है कि वह इनके द्वारा ईश्वर के निकट पहुँच रहा है । एक बच्चा भी गुड़ियों के खेल को खेल ही समझता है परन्तु एक मूर्तिपूजक बूढ़ा होने पर भी मूर्तिपूजा को ईश्वर पूजा समझता है । इस अज्ञान के लिये क्या कहा जाय ?

किसी समाज के उत्थान के लिये उसमें उत्पन्न होने वाली कुरीतियों को दूर करना अनिवार्य है। मूर्तिपूजा से हिन्दू-जाति को हानि हुई है, उसका दिग्दर्शन इस पुस्तक में कराया है। ऐसी कुप्रथा को जिसने हमारे समस्त मानसिक एवं सामाजिक जीवन को खोखला कर दिया है उसे इसलिये जीवित रखना कि वह कुछ शताब्दियों से एक जोक की भाँति हमसे चिपट गई है, आत्मघात के सदृश है।

(१२)

“मूर्तिपूजा वर्तमान हिन्दू धर्म की आत्मा के तुल्य है। उसे बिना घोर क्रान्ति उत्पन्न किये नष्ट नहीं किया जा सकता। परन्तु ऐसा करने से हिन्दू-जाति में प्रबल उथल-पुथल एवं पारस्परिक मनोमालिन्य उत्पन्न होने का बड़ा भय है, जो सङ्गठन एवं राष्ट्रोन्नति में बाधक सिद्ध होगा। अतएव हानिप्रद होते हुए भी मूर्तिपूजा के विरुद्ध कुछ कहना कम से कम वर्तमान परिस्थिति में उचित प्रतीत नहीं होता।”

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मूर्तिपूजा वर्तमान पौराणिक हिन्दू-धर्म की जान है। हिन्दू-धर्म का समस्त ताना-बाना इसी से पूरित है। यह भी सत्य है कि इसे विनिष्ट करने के लिये प्रबल क्रान्ति की आवश्यकता है। परन्तु क्रान्ति के भय से किसी सुधार को स्थगित नहीं किया जा सकता। रोग जितना भयानक होगा उसे दूर करने के लिए उतने ही प्रबल उपचार की आवश्यकता होती है। इस भय से कि शस्त्र-चिकित्सा में रोगी को कष्ट होगा उपचार रोकना नहीं जा सकता। मूर्तिपूजा ने ही जैसा कि हम सिद्ध कर चुके हैं, आर्य-जाति की स्वाधीनता एवं सगठन पर कुठाराघात किया है। मूल कारण को दूर किये बिना जिस प्रकार रोग दूर नहीं हो सकता, वैसे ही मूर्तिपूजा जो हिन्दू-जाति को विभाजित एवं पशुधीन बनाने का मूल कारण है जब तक



करता है, अपितु उसकी निन्दा भी करता है। इतना ही नहीं, एक ही सम्प्रदाय के उपास्यदेवों में भी विभिन्नता है। वैष्णव सम्प्रदाय राम और कृष्ण दोनों को ही पूर्णवितार मानता है। किन्तु इस सम्प्रदाय का एक दल राम को विशेषता देता है और दूसरा कृष्ण को। और एक दूसरे की मूर्ति की पूजा करने को उद्यत नहीं है।

परम वैष्णव श्री गोस्वामी तुलसीदास के लिये प्रसिद्ध ही है कि जब वह मथुरा आये तो कृष्ण की मूर्ति को यह कह कर—  
कहा कहो छवि आज की, भले बने ही नाथ।

तुलसी मस्तक जब नवै, धनुष बाण लो हाथ ॥

उस समय तक नतमस्तक नहीं हुए जब तक कृष्ण की मूर्ति ने धनुष बाण लेकर राम का रूप धारण नहीं कर लिया। चाहे उपर्युक्त घटना सर्वथा असत्य हो परन्तु यह सिद्ध करने के लिय पर्याप्त है कि एक वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत भी विभिन्नताएँ विद्यमान हैं।

“हस्तिना ताडयमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्” हाथी के आक्रमण करने पर भी जैन के मन्दिर में न जाय, यह प्रसिद्ध लोकोक्ति—इसका दूसरा ज्वलन्त उदाहरण है। हिन्दू मूर्तिपूजक का अवतारवाद में अटल विश्वास है। अतः यदि यह निराकार ईश्वर के विशेषणों का कभी अपनी स्तुति प्रार्थना में समावेश कर देता है तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह मूर्ति की पूजा न करके निराकार ईश्वर की पूजा कर रहा है वह ईश्वर के दोनों ही रूपों, साकार तथा निराकार में विश्वास रखता है। इसीलिए कभी-कभी मूर्ति की स्तुति में निराकार के भी विशेषणों का समावेश कर लेता है। इसके अतिरिक्त पुराणों में देवता तथा देवियों की अनेक गाथाएँ उपस्थित हैं। जिनमें उनके जन्म, विवाह, सन्तानोत्पत्ति एवं

युद्धों का विषय वर्णन है। इन गाथाओं के विद्यमान होते हुए यह कहना है कि हिन्दू धर्म बहुदेवतावादी नहीं है अर्थार्थ है।

( २४ )

“वृक्ष अपने फलों से जाना जाता है। जब हम यह देखते हैं कि मूर्तिपूजा में विश्वास रखनेवालों में बहुत से महापुरुष हुए हैं, जिनका अद्वैत चरित्र एवं आत्मबल अनुकरणीय है; फिर वह कैसे मान लिया जाय कि मूर्तिपूजा पाप है ?”



रही है चाहे वह परम्परागत होने के कारण से हो, चाहे इसलिए कि उसे उन्होंने विशेष हानिप्रद नहीं समझा। उनका समस्त जीवन यम, नियमों की मणिमाला से ओतप्रोत पाया जाता है और जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं योग के केवल प्रारम्भिक यम, नियम दो अङ्गों का साधन ही मनुष्य को महात्मा बनाने के लिये पर्याप्त है। अष्टाङ्ग योग की सिद्धि तो मनुष्य को उस अवस्था तक पहुंचा देती है जिसकी कि आज हम इस युग में कल्पना भी कठिनाई से कर सकते हैं। फिर यह महानुभाव प्राप्त पुरुष नहीं थे जिनका प्रत्येक कार्य हमारे लिए अनुकरणीय हो। इसके अतिरिक्त हमने इस पुस्तक में वेद शास्त्रों के अनेक प्रमाण तथा रामायण काल से लेकर महाभारत काल तक की अनेक ऐतिहासिक साक्षी उपस्थित करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उस काल में जो आर्य जाति के महान वैभव और उत्कर्ष का युग था, केवल एक निराकार ब्रह्मोपासना का सर्वत्र प्रचार था। इन प्राप्त ग्रन्थों एवं प्राप्त पुरुषों की साक्षी के समक्ष आधुनिक भ्रान्त महापुरुषों की साक्षी का क्या महत्व हो सकता है इस पर अधिक लिखना उचित प्रतीत नहीं होता। राजा राममोहनराय, इस युग के महान सुधारक ऋषि दयानन्द तथा अन्यान्य हिन्दू सन्तों द्वारा मूर्तिपूजा की युक्तियुक्त समीक्षा भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

“जब हम इमारत बनाते हैं तो मच्चान बाँध कर उसके ऊपर खड़े होकर काम करते हैं और इमारत तैयार हो जाने पर मच्चान को निकाल देते हैं। जिनको ज्ञान प्राप्त है उनके लिए मन्दिर और तड़ाग की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु सामान्य लोगों के



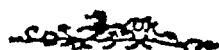
हैं। से मूर्ति पूजा का खण्डन किया है, सभी मूर्ख हुए? इसा, शंकराचार्य, संत तुकाराम, गुरारामदास, ज्ञानेश्वर, मार्टिनलूथर, वशवेश्वर, शिवाविकवर, माणिकवाचकर आदि अनेक संत और आचार्य हुए हैं जिन्होंने मूर्ति पूजा की तीव्र आलोचना की है। यह दूसरी बात है कि आगे चलकर उनके अनुयायी स्वयं मूर्ति पूजा करने लगे हों—क्या ये भी मूर्ख कोटि में आते हैं? हमें दुःख है कि राजा जी जैसे विद्वान ने आवेश में आकर ऐसे अदूरदर्शिता पूर्ण वाक्य लिखे हैं। मूर्ति पूजा वेद, शास्त्र, उपनिषदादि आर्य ग्रंथों के विपरीत है। अतएव उसकी आलोचना न केवल युक्ति संगत है, अपितु वैदिक सस्कृति के प्रत्येक उपासक का धर्म है।

(२६)

एक बार राजा [अलवर नरेश] ने स्वामी जी से कहा कि मूर्ति पूजा पर मेरा विश्वास नहीं होता। राजा की यह बात सुनकर स्वामी विवेकानन्द दीवार पर से महाराज का चित्र उतार कर दीवान से बोले, “यह किसका चित्र है?” दीवान ने कहा, “यह महाराजा साहब का फोटो है”। जो लोग बिना मौजूद थे उन लोगों से स्वामी जी ने फोटो पर थूकने के लिए कहा। लेकिन किसी ने भी वैसा करने का साहस न किया। विस्मय व डर के मारे सभी घबरा उठे। तब स्वामी जी बोले, “चित्र में तो महाराजा साहब नहीं हैं, तो भी इस पर कोई थूकने की हिम्मत नहीं करता। इसका एक मात्र कारण यही है कि सब लोग यह सोचते हैं कि ऐसा करने से जिसका यह चित्र है उसका अपमान होगा। मूर्ति पूजा में भी ऐसा ही है। कोई ईंट पत्थर या काँठ की पूजा नहीं करता, बल्कि अपने इष्ट देव के अनुकूल मूर्ति बनाकर पूजता है। उसी मूर्ति में वह अपने इष्ट देव की छाया देख पाते हैं, ईंट पत्थर को नहीं देखते। जो मूर्ति की पूजा करते हैं वे



एक मूर्ति-पूजक मूर्ति को ही ईश्वर समझ कर उसकी पूजा करता है, उसमें व्यापक ईश्वर को नहीं, क्योंकि जब तक उस मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा नहीं होती वह उसे पाषाण की भांति जड़ वस्तु ही समझता है। प्राण प्रतिष्ठा होने पर उसकी पूजा का प्रकार, यह सिद्ध करता है कि वह उस मूर्ति की ही पूजा करता है, ईश्वर की नहीं, अन्यथा सर्वव्यापक परमात्मा तो उस मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा से पूर्व भी व्याप्त था। यदि मूर्तिपूजा में मूर्ति व्याप्त ईश्वर की पूजा है तो उसकी स्नान, चन्दन-लेपन, भोग, दीप आदि से अर्चना का कोई अर्थ नहीं, क्योंकि ईश्वर को तो इन वस्तुओं की आवश्यकता ही नहीं है। अतएव जो युक्तियाँ मूर्तिपूजा की सिद्धि में श्री स्व० विवेकानन्द ने दी हैं वे हेत्वाभास एव भ्रात हैं।



## उपासना विधि

मूर्तिपूजा के अभाव में हमारी उपासना-विधि क्या हो ? यह एक प्रश्न है, प्रायः जिसे या तो उटिल समझा जाता है या उटिल बनाकर नवम नावारंग के मन्मुख उपस्थित किया जाता है । जैसा कि हमने इस पुस्तक में सिद्ध करने का प्रयत्न किया है मूर्तिपूजा का आरम्भ महाभारत काल के पश्चात् हुआ है । शीघ्र उमका हमारे प्राचीन वैदिक धर्म और मन्त्रुति से कोई सम्बन्ध नहीं है । जिस समय इस देश में मूर्तिपूजा का प्रचार नहीं था, उस समय जननाधारण की एक सर्वाङ्गपूर्ण उपासना-विधि थी, उस विषय पर हमारे धर्मशास्त्र और इतिहास पर्याप्त प्रमाण प्रदान करते हैं । नव क्यों उन प्रश्न को उतना जटिल समझा जाता है । बात यह है, मूर्तिपूजा के समर्थक उनकी आड में उमकी पीठित रचना करते हैं । क्यों नयना चाहते है, इस विषय पर हम पुस्तक में पर्याप्त विचार किया जा चुका है ।

उन्नति के साथ आत्मविकास भी कर सके, आवश्यकता सदा और सर्वत्र अनुभव हुआ करती है। प्राचीन आर्य जाति इस विधि से अनभिज्ञ नहीं थी। हमारे धर्मशास्त्र प्रातः सायं नित्य नैमित्तिक रूप से प्रत्येक नर-नारी एवं बाल-वृद्ध को सन्ध्या करने का बल पूर्वक उद्देश देते हैं। हमारा प्राचीन इतिहास उसका साक्षी है, जिसको हमने यथास्थान सिद्ध किया है। आज भी मूर्तिपूजा के प्रचार से यह विधि लोप नहीं हुई, यह दूसरी बात है कि समय के फेर से उसका कुछ रूप बदल गया हो।

यह सन्ध्योपासना-विधि योग के आधार पर निर्माण की गई है। प्रत्येक अपनी अभिरुचि के अनुसार यदि वह चाहे तो इसकी सहायता से उत्तरोत्तर अपने आत्म-विकास द्वारा समाधि अवस्था तक पहुँच सकता है। आचमन मार्जना प्राणायाम तथा गायत्री मन्त्र का जाप आदि समस्त विधि सरल एवं सुबोध हैं और प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति थोड़े से प्रयत्न और अभ्यास से उसे हृदयङ्गम कर सकता है। परन्तु फिर भी प्रश्न रह जाता है, अज्ञ जन समुदाय के लिए, जिसकी गणना हमारे देश में दुर्भाग्य से आज ८० प्रतिशत के लगभग है, किस विधि का प्रचार किया जाय। योग दर्शन जैसा कि पूर्व लिख चुके हैं, प्रत्येक व्यक्ति और वर्ग के लिए चाहे वह विद्वान हो अथवा अविद्वान, शिक्षित हो अथवा अशिक्षित उपासना विधि का समान रूप से वर्णन करता है। अशिक्षित समुदाय के लिए "ओङ्कार जाप" की सरल विधि योगदर्शन में विद्यमान है। तज्जपस्तदर्थभावनम् (योग दर्शन समाधिपाद सूक्त २८) ओउम का जाप और उसका अर्थचिन्तन एक अत्यन्त सरल विधि है, जिससे बाल-वृद्ध, शिक्षित - अशिक्षित सब ही समान लाभ उठा सकते हैं। इसी भाँति गायत्री मन्त्र के अर्थसहित जाप का अभ्यास भी थोड़े से परिश्रम से किया जा सकता है। गायत्री मन्त्र जाप का हमारे धर्मशास्त्र में ओङ्कार जाप की भाँति बड़ा

महात्म्य है। मन्त्र जाप भी चित्त की एकाग्रता का एक साधन है। अतः साधारण शिक्षित लोग उससे समुचित लाभ उठा सकते हैं।

प्रणव अथवा मन्त्र जाप में जिस बात की विशेष आवश्यकता है और जिसे दुर्भाग्यवश पौराणिक काल में सर्वथा भुला दिया गया था, वह 'अर्थ विचार' है। एक हिन्दू समझता है कि बिना अर्थ-विचारे मन्त्र जाप मात्र से ही उसके पाप नष्ट हो जाते हैं, किन्तु जब तक हम मन्त्रार्थ नहीं जानते तब तक हम उससे पूर्ण लाभ नहीं उठा सकते और न उससे हमारे विचार ही प्रभावित हो सकते हैं। जप का उद्देश्य विचारों की शुद्धता और मन की एकाग्रता है। यदि इससे इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति नहीं होती है तो उसका महत्व तोते की रट से अधिक नहीं। अतः जप के साथ अर्थ विचार अनिवार्य है।

प्रत्येक व्यक्ति को पञ्च - यज्ञों के नित्य अनुष्ठान का आर्य-धर्म पद-पद पर उपदेश देता है। इन्हीं आह्निक कर्मों में एक ब्रह्म यज्ञ है। सन्ध्या, जप, स्वाध्याय और प्रवचन ये सब ही ब्रह्म यज्ञ के अन्तर्गत हैं। अर्थात् सायं, प्रातः ईश्वरोपासना मन्त्र जाप, वेदादि सद्ग्रन्थों का नियम पूर्वक अध्ययन तथा जो कुछ स्वयं अध्ययन किया है उसे दूसरों पर प्रकट करना, ये प्रत्येक के लिये नित्य नैमित्तिक कर्म हैं। परन्तु हिन्दू समाज में जहाँ ईश्वरोपासना का स्थान मूर्तिपूजा ने ले लिया है, वहाँ स्वाध्याय का या तो सर्वथा अभाव हो गया या रामायण, भागवतादि इतिहास पुराणों ने ले लिया, और वेद शास्त्र, स्मृति आदि सद्ग्रन्थों का अध्ययन लुप्तप्राय हो गया। सर्वसाधारण का धर्मविषयक ज्ञान राम और कृष्ण की कथाओं से अधिक कुछ नहीं है। इसका एक अन्य कारण यह भी है कि पौराणिक काल में वेदाध्ययन का अधिकार केवल ब्राह्मणों तक ही



सीमित कर दिया गया । वैदिक काल में वेदाध्ययन पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं था । ऐसी अवस्था में यदि वेदादि उच्चकोटि के धार्मिक साहित्य का सर्व साधारण से सम्पर्क न रहा तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है । आज हिन्दू जाति अपने प्राचीन धार्मिक साहित्य से बहुत कम परिचित है । उसका ज्ञान केवल कुछ पौराणिक-एव-ऐतिहासिक गाथाओं तक ही सीमित है । अतः आर्य धर्म को पुनर्जीवित करने के लिए यह परमावश्यक है कि हम हिन्दुओं में अपने प्राचीन धार्मिक साहित्य के लिए पुनः अभिरुचि उत्पन्न करें ।

पञ्च यज्ञों में दूसरा स्थान देव-यज्ञ का है, जिसका दूसरा नाम अग्निहोत्र अथवा हवन है । इसका भी आर्य जीवन में ब्रह्मयज्ञ की भाँति मुख्य स्थान है । सन्ध्या की भाँति इसको भी प्रातः सायं नित्यप्रातः करने का विधान है, जैसा कि हम पूर्व वर्णन कर चुके हैं । महाभारत-युद्ध काल तक इन दोनों यज्ञों का हमारी दिनचर्या में विशेष महत्त्व रहा था । हमारे पतन के साथ इस यज्ञविधि का भी पतन हुआ । रामायण काल में राम को इन्हीं यज्ञों के रक्षार्थ राक्षसों से घोर युद्ध करना पड़ा, परन्तु वही रुधिर, माँस जो उस समय यज्ञों को अपवित्र करता था, पशुबलि के रूप में यज्ञों में डाला जाने लगा । गौ जैसे उपकारी और निर्दोष पशु की भी यज्ञों में बलि देना धर्म समझा जाने लगा । फलतः बौद्ध काल में यज्ञ जैसे पवित्र धार्मिक कृत्य को इसी दोष के कारण परित्याग कर दिया गया । अग्निहोत्र का एक नाम देव-पूजा भी है । देव शब्द की भाँति देव पूजा को भी मूर्ति-पूजा समझा जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है । आज आप किसी हिन्दू से देव पूजा का शब्दार्थ पूछें वह तुरन्त मन्दिरों में स्थित मूर्तियों की पूजा कह देगा । इसी प्रकार प्राचीन काल

में देव मन्दिर, देवालय, मण्डप शब्दों का प्रयोग यज्ञशालाओं के लिये हुआ करता था । किन्तु आज इन शब्दों को देखकर हम चौंक पड़ते हैं और समझने लगते हैं कि उस समय भी मूर्तिपूजा का प्रचार था । अब मन्दिर शब्द ही एक रूढ़ि बन गया है, जिसका अर्थ मूर्तिपूजा का स्थान समझा जाता है । शिवालय की बनावट यज्ञशाला जैसी है । बम्बई प्रान्त में अब भी उसके लिए मण्डप शब्द प्रयुक्त होता है । शिवालय सर्वत्र चौकोण अथवा अष्ट कोण बनाया जाता है । उसका शिखर, यज्ञाग्नि के शिखर के समतुल्य ही होता है । इसमें कोई आश्चर्य नहीं यदि किसी समय वाममार्ग काल में इन्हीं यज्ञ मण्डपों का रूपान्तर वर्तमान काल के शिवालयों में कर दिया गया हो । कुछ विद्वानों का ऐसा ही मत है । शिवालय के मध्य में शिवलिङ्ग प्रायः एक गहरी गोलाकर वेदी में स्थापित होता है, जिसके सम्बन्ध में उनकी सम्मति है कि वह यज्ञ वेदी है । अतः यह अनुमान कि प्राचीन वैदिक देव-यज्ञ के भग्नावशेष पर ही मूर्तिपूजा का भवन निर्माण हुआ है, केवल एक कल्पना ही नहीं है अपितु उसमें बहुत कुछ तथ्य भी है । सन्ध्योपासना जहाँ व्यष्टि रूप से किये जाने वाला एक धार्मिक कृत्य है वहाँ अग्निहोत्र समष्टि रूप से होने वाली नित्य नैमित्तिक क्रिया है । प्रत्येक गृहस्थ-प्रातः साय-सामूहिक रूप से सपरिवार अग्निहोत्र करे, यह आर्य मर्यादा है । इसी प्रकार पक्ष, मास, चतुर्मास तथा षट्मास की समाप्ति पर सामूहिक अथवा सामाजिक अग्निहोत्र समारोहों का महा-भारत काल तक इस देश में प्रचार था । दीपावली, शारदीय-नवस्योष्टि तथा होली ( वासन्तीय नव शस्योष्टि यज्ञ ) ऐसे यज्ञों के रूपान्तर हैं । इसी प्रकार आषाढ की पूर्णिमा, कार्तिकी-पूर्णिमा, एवं फाल्गुन पूर्णिमा चातुर्मास यज्ञों के अवशिष्ट

मात्र है । अश्वमेध, गोमेधादि यज्ञो का राष्ट्रीय-स्वरूप है । उस समय इस देश में अग्नि होत्र का इतना प्रचार और महत्व था कि प्रत्येक शुभ अवसर पर अग्नि होत्र से ही कार्य प्रारम्भ होता था । हमारे सस्कारों की यज्ञ प्रधानता आज भी हमें उस युग की याद दिलाती है । अग्निहोत्र द्वारा पञ्चदेव—आकाश, अग्नि, वायु, जल तथा पृथ्वी की शुद्धि और सस्कार होता है । यही इनकी पूजा है । और इसीलिये इसका नाम देव-यज्ञ अथवा देवपूजा है । जल-वायु की शुद्धि द्वारा अनायास ही अनेक सक्रामक रोगों से हमारी रक्षा होती है । यह निर्विवाद है कि अग्निहोत्र से हमारे मन और स्वास्थ्य पर एक अद्भुत प्रभाव पड़ता है जिसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति थोड़े से व्यय और परिश्रम से स्वयं कर सकता है ।

आर्य जाति अपने धर्म और सस्कृति से आज बहुत दूर हट चुकी है, परन्तु अब भी उनके अकुर बीजरूप से उसमें विद्यमान है । आवश्यकता किञ्चित् नेतृत्व और पथप्रदर्शन की है । हजारों वर्षों से अनेक सम्प्रदायों द्वारा वह पथभ्रष्ट होती रही है । धर्म के नाम पर अनेक कुसस्कार और दुर्व्यसन उसमें घर कर गये हैं । तथापि राख की ढेरी के नीचे दबी हुई चिनगारी की भाँति आज भी वैदिक भावनाएँ सर्वथा विलुप्त नहीं हुईं । हिन्दू समाज के कर्णधार स्वार्थ से ऊपर उठ कर उस दैवी अग्नि को प्रज्वलित करना चाहे तो वह अब भी ससार को पुनः देदीप्यमान करने की क्षमता रखती है । इस जाति ने अनेक दुर्दिन देखे हैं किन्तु फिर भी उसका अपना प्राचीन गौरव सर्वथा विलुप्त नहीं हुआ । वह आज कङ्काल होने पर भी अनेक बहुमूल्य रत्नों की स्वामिनी है, और अब भी ससार को कुछ दे सकती है । क्या इसके लिये हम कुछ आत्मोसर्ग करेंगे ?



# लेखक की अन्य रचनाएं

भारत में मूर्तिपूजा ( तृतीय संस्करण )—	२.००
ऋषि दयानन्द के पुण्य संस्मरण	१.३७
भारतीय संस्कृति के तीन प्रतीक	.५०
पूर्वजन्मस्मृति—एक आध्यात्मिक विवेचन	.५०
आर्य समाज का नवनिर्माण	.१२
ब्राह्मण समाज के तीन महापातक ( प्रेस में )	
ऋषि दयानन्द का सुन्दरतम आफसैट चित्र	
पाँच रंगी में आकार १८ × २२ इन्च	.७५

पुस्तक मिलने का स्थान—

व्यवस्थापक, वेद मंदिर प्रकाशन  
अतरौली (अलीगढ़) उत्तर प्रदेश

# गीता पर क्रान्तिकारी साहित्य

गीता सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियों पर खुला विचार

आकार—२० × ३० × १६—२४ पौंड कागज, आकर्षक मुख पृष्ठ

गीता समीक्षा

( गीता अवैदिक है ) श्री चकखनलाल वेदार्थी, एम० ए०  
पृष्ठ १३० मूल्य १)

गीता विमर्श

( समस्त गीता प्रक्षिप्त है ) प० राजेन्द्र, पृष्ठ ८० मूल्य ७५ न० पै०

गीता की पृष्ठभूमि

(अर्जुन-विषाद, गीताकार की एक मिथ्या कल्पना) प० राजेन्द्र,  
पृष्ठ ५८ मूल्य ४० न० पै०

ऋषि दयानन्द और गीता

(गीता ऋषि दयानन्द को सर्वथा अमान्य थी) प० राजेन्द्र,  
पृष्ठ २८ मूल्य १५ न० पै०

उपर्युक्त पुस्तकों पर विद्वानों तथा पत्रों की सम्मति

१. आपने मुझे चार पुस्तके (उपर्युक्त गीता साहित्य) दी थी। वे चारों मैंने पढ़ ली हैं। आपने जो कुछ लिखा है उससे अधिकांश में मैं सहमत हूँ। क्वचित् क्वचित् विचार भेद है। सम्भव है विचार विनिमय होने पर हम दोनों सर्वांश में सहमत हो सकें।

—स्वामी ध्रुवानन्द

प्रधान सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली

२. 'श्री चक्खनलाल जी की 'गीता समीक्षा' बहुत अच्छी है । गीता के विषय में आर्यों की दुपल्ली नीति भ्रान्तिमूलक भी है और भ्रान्ति उत्पादक भी ।

'गीता की पृष्ठ भूमि' तथा 'ऋषि दयानन्द और गीता' दोनों पुस्तकें मिली । गीता के सम्बन्ध में जो भ्रान्ति फैली हुई है उनके निराकरण में आपने भरसक प्रयत्न किया है । परन्तु गीता की प्रचलित और प्रसरित ख्याति से लाभ उठाने का लालच आर्यसमाज में भी बना हुआ है । 'अर्थकामेष्ट्व सक्ताना धर्मं ज्ञानं विधीयते ।' आपने अपना कर्तव्य पालन किया और अच्छी तरह से । इसके लिये धन्यवाद ।

—प० गंगा प्रसाद उपाध्याय एम० ए०, प्रयाग

३. मैंने गीता के सम्बन्ध में आपकी पुस्तक (गीता विमर्श) पढ़ी है, वह समीचीन (सत्य) है । गीता महाभारत में प्रक्षिप्त है ।... मैं इस गीता का बड़ा विरोधी हूँ ।

—(स्वामी) रामेश्वरानन्द, ससद सदस्य (एम० पी०)

४. गीता एक भ्रामक ग्रंथ है ।

—प० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, वाराणसी

५. मैंने श्री चक्खनलाल जी एम० ए० की लिखी 'गीता समीक्षा' तथा श्री पं० राजेन्द्र (अतरीली) की 'गीता की पृष्ठ भूमि', 'ऋषि दयानन्द और गीता' देखी-पढ़ी । इन पुस्तकों को पूर्वापर पढ़ने पर पूरा निश्चय हो जाता है कि गीता ऋषि दयानन्द के विचार से धर्म में प्रमाण पुस्तक नहीं है । आर्यसमाज के विद्वानों को चाहिये कि गीता को प्रमाणित कोटि में न रख कर एक साधारण पुस्तक मानें । वेदों का सार इसे बताना अपनी मूर्खता का प्रमाण देना है । गीता के श्लोकों का प्रयोग गीता मानने वालों के लिए जैसा श्री स्वामी जी ने किया है वैसा आर्य पंडित भी कर सकते हैं ।

गीता में प्रक्षिप्त अप्रक्षिप्त का विवेचन करना व्यर्थ का सर दर्द

मोल लेना है । हमारे लिए तो वस 'वेद एव परो धर्मः' मनुवचन मान्य है ।

—बिहारी लाल शास्त्री, बरेली (कार्तिक कृ० ६, स० १६१६ वि०)

६ चारो पुस्तक (उपर्युक्त गीता समीक्षा आदि) प्राप्त हुई । आपकी खोज अद्वितीय है । मैं तो यह चाहता हू कि इन समस्त पुस्तको को प्रत्येक आर्यसमाजी पढे ।

—दिव्यानन्द सरस्वती

उप प्रधान, आर्य प्रतिनिधि सभा मध्य प्रदेश व विदर्भ, नागपुर

७. गीता, महाभारत मे पूर्णतः प्रक्षिप्त है । प्रो० चक्खनलाल एम० ए०, आगरा व श्री प० राजेन्द्र, अतरौली ने उत्तम साहित्य गीता की अमान्यता पर लिखा है । .....आर्यसमाज के विद्वानो को मन्डन करने के लिए बहुत साहित्य है । उनको इस गलत ग्रथ के मन्डन मे अपनी शक्ति नही लगानी चाहिये और न आर्यसमाजी पत्रो को पौराणिकना के मूलाधार इस गीता के प्रचार को प्रोत्साहन देना चाहिये ।

—प्रसिद्ध पौराणिक साहित्य समालोचक डा० श्रीराम आर्य,  
कासगज (एटा) उत्तर प्रदेश

८. 'गीता समीक्षा'—प्रस्तुत पुस्तक कलेवर की दृष्टि से छोटी होने पर भी विषय वस्तु की दृष्टि से गम्भीर और विचारोत्तेजक है । एक दृष्टि से इसे क्रान्तिकारी कहा जाय तब भी कोई अत्युक्ति नही होगी, क्योंकि लेखक ने गीता के सम्बन्ध मे प्रचलित धारणाओ का सप्रमाण और युक्तियुक्त खण्डन किया है । आमतौर पर समझा जाता है कि गीता उपनिषदो का सार है, अनेक स्थानो पर गीता के श्लोको मे और उपनिषदो के वचनो मे अत्यधिक समानता भी है, किन्तु दोनो के मन्तव्यो मे कितना अन्तर है- यह दर्शनीय है ।

कट्टर आर्य समाजी दृष्टिकोण से लिखी इस पुस्तक के निष्कर्षो से

किसी का मतभेद हो सकता है, परन्तु इसकी विचारोत्तेजकता असदिग्ध है—इसीलिये गीता के भक्तों को जहाँ यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिये वहाँ उनको भी, जो गीता को अपने धर्म का एकमात्र आधार ग्रन्थ नहीं मानते ।

— दैनिक हिन्दुस्तान नई देहली १८-११-६२

६. गीता विमर्श—यह गीता पर एक युक्तियुक्त सप्रमाण विवेचन है । योग्य लेखक ने सैद्धान्तिक विषयों पर अनेक उत्तम पुरतकें लिखी हैं । शैली विवेचनात्मक प्रशंसनीय है । ऐसे विवेचनों से जनता में स्फूर्ति तथा ऊहा बढ़ती है ।

‘वेद वाणी’—वाराणसी—मई १९६३

१०. गीता की पृष्ठभूमि—विद्वान् लेखक ने महाभारत के प्रमाणों से ही यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि युद्ध के समय ‘अर्जुन विपाद’ जिस पर गीता की सृष्टि आधारित है एक कल्पना तथा महाबाहु अर्जुन के प्रति घोर अन्याय है ।...महाभारत में गीता का प्रक्षेप अद्वैतवाद के प्रच्छन्न प्रचार का वैसा ही प्रयत्न है जैसा रामायण में ‘योगवशिष्ठ’ का । वैदिक धर्मावलम्बियों को यह ग्रन्थ पढ़ कर सचेत हो जाना चाहिये ।

ऋषि दयानन्द और गीता—विद्वान् लेखक ने बड़े स्पष्ट रूप से गीता और आर्यसमाज की स्थिति का दिग्दर्शन कराया है और यह निःसदिग्ध रूप से प्रमाणित कर दिया है कि महर्षि दयानन्द गीता को अप्रामाणिक मानते थे । अतः आर्यसमाज की वेदी से गीता का प्रचार अयुक्त है, इससे वेद प्रचार को अत्यन्त हानि पहुँच रही है ।

‘आर्य-मित्र’ —लखनऊ—११ अगस्त १९६३

११. गीता पर प० राजेन्द्र जी की मान्य समालोचनात्मक पुस्तक विशेष मनन करने योग्य है ।

इतिहास, आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश  
(प्रथम भाग पृ० २२५)



# शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	८	नान	स्नान
७	१५	हस	हास
८	१	सवाराम	सघाराम
११	२०	जागृत	जाग्रत
२५	६	पेने	पेरने
३०	२४	जगह	जगत
३१	२२	परिणाम	इस परिणाम
३८	२६	लिये	के लिये
४४	१	देवता है	देता है
४५	२६	ब्रह्म	भ्रम
४७	२६	से	में
५०	३	इतिहासको	ऐतिहासिकों
५०	१५-१६	वाल्मीकि	वाल्मीकीय
५२	१३	जप करेंगे	जप करके
६५	१०	आह्वक	आह्विक
८०	१	विहित	विहित
८२	२३	सम्य	साम्ब
८६	२	अपसी	अपनी
१०२	२२	ब्रह्म	ब्रह्मा
१०३	६	कीतिकी	कातिकी
१०४	७	ब्रह्मा पास	ब्रह्मा के पास
१०६	१४	घटना	घटना
११३	१८	पूरा	मेरा
११६	५	भैरवी	भैरव

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२१	२१	राजाओ	राज्यों
१३०	१६	पदाक्रान्त	पादाक्रान्त
१५६	११	कर्य	कार्य
१६६	५	उस	उसके
१७०	२२	प्रवाहित	प्रभावित
१७१	१२	उसका	उनका
१८१	२४	त्वा ॥	त्वा ॥ यजु० १५-६५
१८२	१०	समृन्	ससृज ॥ अथ० ३-११-३
१८२	२४	विश्वे ॥	विश्वे ॥ ऋ० ११-१३०-३
१९०	३	दूसरा	दूसरा
१९६	१	अ त	अत मे
२०१	७	उम	उस
२२२	३	न सका	न कर सका
२२६	२३	ऊलटी	उलटी
२२८	२४	अपसे	अपने
२३७	१६	असभ्य	असम्भव
२४६	१५	वलिवेदी	वलिवेदी
२५६	२५	नवस्योष्टि	नवशस्येष्टि
२५६	२५	शस्योष्टि	शस्येष्टि

